वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक १० अक्तूबर २०१०
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक १०

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

नये प्रकाशन — संग्रहणीय ग्रन्थ

मेरा भारत अमर भारत

(स्वामी विवेकानन्द की उक्तियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ और कुछ मनीषियों की दृष्टि में उनका जीवन तथा कृतित्व)

पृष्ठ संख्या – २०६

मूल्य – रु. ३५/– (डाक व्यय अलग)

शिक्षा का आदर्श

(स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा विषयक विचारों का नया संकलन)

पृष्ठ संख्या – १३२

मूल्य – रु. २५/– (डाक व्यय अलग)

नये प्रकाशन — संग्रहणीय ग्रन्थ

गीता का सार्वजनीन सन्देश

(तीन खण्डों में)

(लेखक – स्वामी रंगनाथानन्द जी)

पृष्ठ संख्या –

मूल्य – रु. ३५०/– (डाक व्यय अलग)

गीता का मर्म

(लेखक – स्वामी शिवतत्त्वानन्द)

पृष्ठ संख्या – १९६

मूल्य – रु. ३५/– (डाक व्यय अलग)

अपनी प्रति के लिये लिखें -

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली
नागपुर ४४० ०१२ (महाराष्ट्र)

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः ।
सत एव स्वतःसिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः।।१५७।।

अन्वय – देह-तद्-धर्म-तत्-कर्म-तद्-अवस्था-आदि-साक्षिणः सतः आत्मनः एव तद्-वैलक्षण्यम् स्वतः सिद्धम् ।

अर्थ – देह, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्थाओं का साक्षी सत्-स्वरूप आत्मा है; इस (आत्मा) का देह आदि से पार्थक्य स्वतः ही सिद्ध है ।

शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः।।१५८।।

अन्वय – अयं (देहः) शल्यराशिः मांसलिप्तः मलपूर्णः अतिकश्मलः । एतद् विलक्षणः वेत्ता स्वयं कथं भवेत्?

अर्थ – यह शरीर हड्डियों का ढाँचा है, जिस पर मांस का लेप किया हुआ है, यह मल आदि से परिपूर्ण है और अत्यन्त दूषित है; यह शरीर भला कैसे स्वयं ही अपने से भिन्न अपना ज्ञाता (आत्मा) हो सकता है?

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशा-
वहंमतिं मूढजनः करोति ।
विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो
निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ।।१५९।।

अन्वय – त्वक्-मांस-मेदः-अस्थि-पुरीष-राशौ मूढजनः – 'अहम्'-मतिम् करोति । विचारशीलः निज-स्वरूपं विलक्षणं परमार्थ-भूतम् वेत्ति ।

अर्थ – इस त्वचा, मांस, चर्बी, अस्थि तथा मल-मूत्र की राशि (शरीर) में – मूढ़जन ही 'मैं' बुद्धि लाते हैं। परन्तु विचारशील व्यक्ति इन सबसे भिन्न परमार्थ तत्त्व (आत्मा) को ही अपने स्वरूप के रूप में जानते हैं ।

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि-
र्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो
ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ।।१६०।।

अन्वय – जडस्य एव – देहः अहं – इति बुद्धिः, तु विदुषः देहे जीवे च अहं-धीः, विवेक-विज्ञानवतः महात्मनः सदा-आत्मनि – अहं ब्रह्म – इति एव मतिः ।

अर्थ – जड़बुद्धि के लोग देह को ही 'मैं' मानते हैं; शास्त्र पढ़कर आत्मा के विषय में जाननेवाले कभी देह को और कभी (प्राण-मन-बुद्धि से युक्त) जीवात्मा को 'मैं' मानते हैं; परन्तु जिन्होंने आत्म-अनात्म का विचार करके आत्मा को विशेष रूप से जान लिया है, ऐसे महात्मा लोगों की स्वयं में सर्वदा 'मैं ब्रह्म हूँ' – ऐसी धारणा बनी रहती है ।

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे
त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ।।१६१।।

अन्वय – (हे) मूढबुद्धे! अत्र त्वक्-मांस-मेदः-अस्थि-पुरीष-राशौ आत्मबुद्धिं त्यज; (तु) सर्वात्मनि निर्विकल्पे ब्रह्मणि (आत्मबुद्धिं) कुरुष्व; (तया) परमां शान्तिं भजस्व ।

अर्थ – हे निर्बोध मनुष्य ! तुम इस त्वचा, मांस, चर्बी, हड्डी, मल-मूत्र की राशि (शरीर) में 'मैं'-बुद्धि को छोड़ दो; और सबकी अन्तरात्मा-स्वरूप निर्विकल्प ब्रह्म में 'मैं'-बुद्धि को लगाओ; और इस प्रकार परम शान्ति का अनुभव करो ।

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(भीमपलासी–कहरवा)

श्रीरामकृष्ण के चरणों में, मेरा सब कुछ न्यौछावर है,
माया-ममता का नाम नहीं, तन-मन-जीवन उनका घर है ।।

वे ही मेरे पितु-मातु-सखा, वे ही मेरे सम्पद-धन-जन,
उनकी करुणा-कटाक्ष से अब, हो चुका धन्य मेरा जीवन;
अब टूट चुका है मोहपाश, जो बन्धनकारी नश्वर है ।।

जैसे वे रखते हैं मुझको, वैसे ही जग में रहता हूँ,
अपने दिल की सारी बातें, मैं प्रतिपल उनसे कहता हूँ;
अब तो यह दीख रहा मुझको, उनका ही रूप चराचर है ।।

जीवन का खेल खतम होगा, जब दिन पूरे हो जायेंगे,
निज गोद उठा ले जाने को, वे अन्तिम क्षण में आयेंगे;
तैयार सदा हूँ मैं 'विदेह', यम का भी दूर हुआ डर है ।।

– २ –

(भीमपलासी–कहरवा)

मेरे इस सूने अन्तर में,
हे रामकृष्ण अब आ जाओ।
मम दुख-पीड़ा से द्रवित-प्राण,
तन-मन-जीवन में छा जाओ ।।

संसार तुम्हारा जटिल बड़ा,
मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़ खड़ा,
जाऊँ किस ओर न ज्ञात मुझे,
आकर तुम ही बतला जाओ ।।

अति शुष्क पड़ा है मेरा चित,
नहिं भाव-भक्ति का रस किंचित्,
तुम ही अब तो करुणा करके,
निज स्नेहसुधा बरसा जाओ ।।

मैं विषयों से उकताया हूँ,
अतएव शरण में आया हूँ,
कातर 'विदेह' की टेर सुनो,
निज रूप अनूप दिखा जाओ ।।

साहसी और बलवान बनो

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी के कुछ चुनी हुई उक्तियों का एक संकलन 'Thus Spake Vivekananda' के साथ मद्रास के श्रीरामकृष्ण मठ से प्रकाशित हुआ था। उसी का हिन्दी भाषान्तर हम धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। हर उक्ति के साथ १० खण्डों वाले 'विवेकानन्द साहित्य' ग्रन्थ की खण्ड-संख्या तथा पृष्ठ-संख्या भी दी गई है। उद्धरण किसी अन्य ग्रन्थ का होने पर उसका तदनुरूप उल्लेख किया गया है। – सं.)

उपनिषदों का हर पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है। यह विषय विशेष रूप से स्मरणीय है, समस्त जीवन में मैंने यही महाशिक्षा प्राप्त की है – उपनिषद् कहते हैं, हे मानव, तेजस्वी बनो, वीर्यवान बनो, दुर्बलता को त्यागो। (५.१३२)

पिछले एक हजार वर्षों से ही हम लोगों में ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हुआ है, जो हमारे पूरे राष्ट्र को शक्तिहीन कर सकती हैं। विगत एक हजार वर्ष से लगता है मानो हमारे राष्ट्रीय जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य रहा हो कि हम किस प्रकार अपने को दुर्बल से दुर्बलतर बना सकें। अन्त में हम सचमुच ही सबके पैरों के पास रेंगनेवाले ऐसे केंचुओं के समान हो गये हैं, जिन्हें अब जो भी चाहे, कुचल सकता है। (५.१३३)

बन्धुओ, तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए। उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे पूरे संसार को तेजस्वी बना सकती हैं। उनके द्वारा सारा संसार पुनरुज्जीवित, सशक्त और बलवान हो सकता है। (५.१३३)

वे सभी राष्ट्रों के, सभी मतों के, विभिन्न सम्प्रदायों के दुर्बल, दुखी तथा पददलित लोगों का उच्च स्वर में आह्वान कर रहे हैं कि सभी लोग स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त या स्वाधीन हो जायँ। दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता – ये ही उपनिषदों के मूलमंत्र हैं। (५.१३३-३४)

मैं चाहता हूँ – लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु, जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो, जो वज्र के समान पदार्थ का बना हो। बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज। (५.३९८)

सारी शक्ति तुम्हारे भीतर है, तुम कुछ भी कर सकते हो और सब कुछ कर सकते हो, यह विश्वास करो। मत सोचो कि तुम दुर्बल हो। आजकल हममें से अधिकांश जैसे अपने को आधा पागल समझते हैं, तुम अपने को वैसा मत समझो। इतना ही नहीं, तुम कुछ भी और हर काम बिना किसी की सहायता के ही कर सकते हो। तुममें सारी शक्ति विद्यमान है। उठो और अपने भीतर छिपी हुई दिव्यता को प्रकट करो। (५.१७८)

तुम्हारे देश के लिए वीरों की आवश्यकता है – वीर बनो। ... चट्टान की तरह दृढ़ रहो। सत्य की हमेशा जय होती है। ... भारत को नव विद्युत्-शक्ति की आवश्यकता है, जो राष्ट्रीय धमनी में नवीन चेतना पैदा कर सके।... साहसी बनो, साहसी बनो – मनुष्य सिर्फ़ एक बार ही मरा करता है। मेरे शिष्य कभी भी किसी भी प्रकार से कायर न बनें।... मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। अति गम्भीर बुद्धि धारण करो। बालबुद्धि के लोगों में कौन क्या कह रहा है, उस पर जरा भी ध्यान न दो। उदासीनता ! उदासीनता ! उदासीनता !... हमेशा याद रखो – आँखें दो होती हैं और कान भी दो, परन्तु मुख एक ही होता है।... सभी बड़े-बड़े कार्य प्रबल विघ्नों के बीच ही हुए हैं। **हे वीर, स्मर पौरुषम् आत्मनः, उपेक्षितव्याः जनाः सुकृपणाः काम-कांचन-वशगाः** – "हे वीर, अपने पौरुष का स्मरण करो, कामकांचनासक्त दयनीय लोगों की उपेक्षा ही उचित है।' (३.३२३,३४४;४.३०२,३४६;२.३४८-४९,३५०)

किन्नाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्तिः
आमन्त्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम्।
त्रैलोक्यमेतदखिलं तव पादमूले
आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्।।

– हे सखे, तुम क्यों रो रहे हो? सब शक्ति तो तुम्हीं में है। हे भगवन्, अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप विकसित करो। ये तीनों लोक तुम्हारे पैरों के नीचे पड़े हैं। जड़ की कोई शक्ति नहीं – प्रबल शक्ति आत्मा की ही है। (३.३११-१२)

क्षीणा स्म दीनाः सकरुणा जल्पन्ति मूढा जनाः
नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः।।

– जो लोग देह को आत्मा मानते हैं वे मूढ़जन ही करुण कण्ठ से कहते हैं – हम क्षीण हैं, हम दीन हैं; यह नास्तिकता है। (३.३१२)

हमारे राष्ट्र को इस समय कर्मतत्परता तथा वैज्ञानिक प्रतिभा की जरूरत है।... महान् तेज, महान् बल तथा महान् उत्साह की आवश्यकता है। अबलापन से क्या यह कार्य हो सकता

है?... **उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति लक्ष्मीः** – "उद्योगी पुरुषसिंह ही समृद्धि को प्राप्त करता है।" (४.४०७,४०९; ५.४०३)

पीछे की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है – आगे बढ़ो। हमें अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिए, तभी महान् कार्य सम्पन्न होगा। (५.४०३)

वेदान्त पाप स्वीकार नहीं करता, भ्रम स्वीकार करता है। वेदान्त कहता है कि सबसे बड़ा भ्रम है – अपने को दुर्बल, पापी, हतभाग्य कहना – यह कहना कि मुझमें कोई शक्ति नहीं है, मैं यह नहीं कर सकता, वह नहीं कर सकता...। (८.७)

बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है, दुर्बलता ही मृत्यु।... बचपन से ही उनके मस्तिष्क में इस तरह के विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दें, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। (९.१७७, २.२०)

दुर्बलता ही संसार में समस्त दु:ख का कारण है, इसी से सारे दु:ख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसीलिए इतना दु:ख भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इस प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख में गिरते हैं। जहाँ हमें दुर्बल करनेवाला कोई नहीं है, वहाँ न मृत्यु है, न दु:ख। (२.१८६)

अत: बल ही एक आवश्यक बात है। बल ही भव-रोग की दवा है। धनिकों द्वारा रौंदे जानेवाले निर्धनों के लिए बल ही एकमात्र दवा है। विद्वानों द्वारा दबाये जानेवाले अशिक्षितों के लिए बल ही एकमात्र दवा है, और अन्य पापियों द्वारा सताये जानेवाले पापियों के लिए भी वही एकमात्र दवा है। (२.१८९)

अत: उठो, साहसी बनो, वीर बनो। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो – याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। अत: इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और स्वयं अपना भविष्य गढ़ डालो। (२.१२०)

सर्वदा 'हम रोगी हैं' – यह सोचते रहने से हम स्वस्थ नहीं हो सकते, उसके लिए दवा आवश्यक है। ... मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना ज्यादा सहायता नहीं करता, उसे बल प्रदान करो और बल सदैव निर्बलता का चिन्तन करते रहने से नहीं प्राप्त होता। दुर्बलता का उपचार सदैव ... बल का चिन्तन करना है। (८.११,११)

इस ऐहिक जगत् या आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दु:ख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी से सारी बुराई होती है। और भय होता क्यों है? – आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण। हममें से प्रत्येक सम्राटों के सम्राट् (ईश्वर) का उत्तराधिकारी है। (५.५७)

समझ लो कि एक दुर्बलता शब्द ही सभी पापों और समस्त बुरे कर्मों का द्योतक है। सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल-प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाता है; दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप प्रकट नहीं कर सकता। (५.३१६)

हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस माँसपेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छा-शक्ति-सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा-शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा। (५.८६)

हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और 'मर्द' बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की जरूरत है, जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांग-सम्पूर्ण शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी – जो भी तुमको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये उसे जहर की भाँति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञान-स्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे। (५.११९-२०)

हम अनेक बातें सोचते हैं, किन्तु उनके अनुसार कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है – आचरण में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता, हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा। प्रथम तो हमारे युवकों को बलवान बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवक बन्धु, तुम बलवान बनो – यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा तुम्हें फुटबॉल खेलने से स्वर्ग-सुख अधिक सुलभ होगा। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कही हैं, और इनको कहना अति आवश्यक है, कारण, मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे। तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भलीभाँति समझोगे। (५.१३७)

❖ **(क्रमशः)** ❖

नाम की महिमा (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

नाम-साधना अपनाने के पूर्व आपको जान लेना होगा कि आप गणेशजी के समान हैं, शंकरजी के समान हैं, या वाल्मीकि के समान; और तब आपके लिए नाम की पृष्ठभूमि बदल जायेगी। समर्थ के लिए अलग विधि होती है और असमर्थ की समस्या भिन्न प्रकार की होती है। जो बालक बड़ा हो गया है, विद्यालय में पढ़ने गया है, उसको शब्द का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, तभी वह परीक्षा में उत्तीर्ण होगा। यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु एक दूसरा पक्ष भी है।

जो बालक बिलकुल नन्हा है, विद्यालय में जाने योग्य नहीं है, उसके शब्दों के उच्चारण में शुद्धता होती है क्या? यदि आपको स्वयं का स्मरण न हो, तो अपने बच्चों से सुन सकते हैं कि नन्हा बच्चा शब्दों को कितने अशुद्ध रूप से बोलता है ! वह माँ से कोई वस्तु माँगता भी है, तो उस वस्तु का नाम भी शुद्ध रूप से नहीं बोल पाता। हो सकता है कि वह रोटी को टोटी कहकर माँगता हो। तो माँ क्या उसे टोटी लाकर दे देती है? या माँ उसे यह कहकर चाँटा जड़ देती है कि तू अशुद्ध बोल रहा है, मैं तुम्हें रोटी नहीं दूँगी। माँ सोचती है कि यह तो शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ है; ऐसी स्थिति में इसकी जरूरत को पूर्ण करना हमारा कार्य है।

अभिप्राय यह कि गणेशजी और शंकरजी तो बड़े हैं, परन्तु यदि हम वाल्मीकि के समान असमर्थ हैं, तो? यदि संसार में माँ इतनी उदार है कि उलटे शब्दों को सुनकर भी उसका सीधा अर्थ लेती है, तो क्या हमारे भगवान इतने भी उदार नहीं हैं कि उलटा नाम सुनकर समझ सकें कि सीधा नाम क्या है? आप सोचिए – क्या आप ईश्वर को इतना भी उदार नहीं मानते? क्या उनमें माँ के समान वात्सल्य नहीं है? यदि आपको असमर्थता की अनुभूति हो रही है, यदि आपके मन में ग्लानि है और केवल सन्तों की वाणी पर विश्वास करके भगवान का नाम ले रहे हैं, तो गोस्वामीजी ने आपके लिये एक सूत्र दे दिया है – बीज सीधा बोया जाय, तो भी पौधा बनकर उगेगा और उलटा पड़ जाय, तो भी उगेगा।

तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ ।
खेत परे पै जामिहै, उलटो सीधो बीज ।।

इसका अभिप्राय यह है कि नाम-साधना सर्वोच्च कक्षा की भी वस्तु है और यह पहली कक्षा से भी पहले की – बिलकुल नन्हें बालक की स्थिति वाले लोगों की भी वस्तु है। वाल्मीकि के जीवन में विवेक और विश्वास का अंकुर था। विवेक न होता, तो सन्तों की वाणी सुनकर वे परिवार के लोगों से पूछने न जाते; और विश्वास न होता, तो शायद रामनाम का जप ही न करते। नन्हें बालक को माँ के प्रेम में पूर्ण विश्वास होता है; वह जब विश्वासपूर्वक नाम लेता है, तो माँ उस पुकार को सुनती है, उसके अशुद्ध शब्दों को सुनकर भी उनका सही अर्थ ग्रहण करती है और बालक की जरूरत को पूर्ण करती है। गोस्वामीजी द्वारा दिये गये सूत्र को सुनकर कई लोग चकरा जाते हैं कि कहाँ तो नाम-साधना के लिए इतनी कठिन पद्धति की बात कही जाती है ! कबीरदास तो कहते हैं –

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माँहि ।
मनुवा तो दस दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं ।।

और दूसरी ओर गोस्वामीजी कहते हैं – अच्छे भाव से, बुरे भाव से, क्रोध से या आलस्य से – किसी भी तरह से नाम जपने से दसों दिशाओं में कल्याण होता है –

भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।। १/२८/१

हम किसकी बात मानें? कबीरदासजी की या तुलसीदासजी की? गणेशजी की तरह बनें या शंकरजी की तरह? हम क्या बनें? हमें क्या स्वीकार करना चाहिए? यह पंक्ति तो सब कुछ उलट-सी देती है। उलट नहीं देती, यह पंक्ति भी सत्य है; परन्तु मुख्य बात यह है कि यह मत भूल जाइये कि कौन-सा सत्य किसके लिए है। गोस्वामीजी की वृत्ति यह है कि जो बड़ा पुत्र है, वह माँ को अपनी योग्यता से, अपनी कर्मठता से प्रसन्न करता है। पर नन्हा बच्चा माँ से जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह केवल अपने विश्वास के भरोसे पाता है, किसी योग्यता से नहीं पाता।

गोस्वामीजी से पूछा गया कि आपने तो लिखा कि शास्त्रों में मंत्र के साथ बहुत विधियाँ लिखी हुई हैं और फिर आप ही कह रहे हैं कि अच्छे या बुरे भाव से, क्रोध से या आलस्य से – किसी भी तरह से नाम जपने से कल्याण होता है। उन्होंने

कहा – "भाई, पहले समझ तो लो। मैं मंत्र जप नहीं करता, किसी शास्त्र की विधि को नहीं जानता। मेरे लिए 'रा' और 'म' अक्षर मात्र नहीं हैं।" तो क्या हैं? विनय-पत्रिका में वे सूत्र देते हैं – मैं नन्हा बालक हूँ। बालक जैसे तोतली भाषा में अपने माँ और बाप को पुकारता है, वैसे ही मैं बच्चे की तरह राम-नाम लेता हूँ और राम-नाम मेरे माता-पिता हैं –

मेरे तो माय बाप दुइ आखर हैं सिसु अरनि अरो।

यदि बच्चे की दृष्टि से आप देखें, तो यह चौपाई बिलकुल ठीक है – अच्छे भाव से, बुरे भाव से, क्रोध से या आलस्य से – किसी भी तरह से नाम जपना –

भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।। १/२८/१

बच्चा कब मृगचर्म पर बैठकर अपनी माँ का नाम लेता है, कब नहाकर लेता है, कब कुशासन पर लेता है? वह तो सोकर उठा और आलस्य में भरा हुआ ही अपनी तोतली भाषा में माँ को पुकारता है और उस आलस्य-भरी पुकार को सुनकर भी माँ दौड़ी हुई चली आती है। इसी प्रकार कभी माँ ने दूध देने में देर कर दी, तो खीझ जाता है और गुस्से में चिल्लाकर माँ से बोलता है, पर आप देखेंगे कि माँ का प्यार ज्यों-का-त्यों है। कभी बड़े प्यार से नाम लेता है और बालक के भले के लिए माँ कभी कोई कठोर व्यवहार करने लगे, तो बालक को क्रोध भी आ जाता है। तब वह माँ का गुण न देखकर माँ को उलाहना भी देने लगता है। पर बालक चाहे जिस रूप में माँ के नाम को पुकारे, माँ उससे प्यार करती है। ऐसी स्थिति में यह चौपाई भी ठीक है, पर पहले आप यह निर्णय कर लीजिए कि आप बालक हैं या नहीं? बस! यह बड़ा कठिन है। **बड़ा बनना सरल है, छोटा बनना उतना सरल नहीं।** आप अन्यत्र तो बड़े बने रहें और नाम-जप के लिए आप नन्हें बालक वाली चौपाई चुन लें, तो बात बनने वाली नहीं है।

तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ ।।

'रीझ भजो चाहे खीझ' – बस इतना ही याद मत कर लीजिए; अपने 'राम' को भी याद कर लीजिए। पहले राम से अपनापन जुड़ जाय, तब चाहे रीझकर भजिए या खीझकर। यदि आपकी बालवृत्ति आ गई – असमर्थता की तीव्र अनुभूति, स्वयं अपने आपमें समर्थता का पूर्ण अभाव और नाम अक्षर और शब्द जैसा न प्रतीत हो, अपितु ऐसा लगे कि जब हम नाम ले रहे हैं, तो अपनी माँ को पुकार रहे हैं, अपने पिता को पुकार रहे हैं, तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप जैसे भी उच्चारण करेंगे, उसका फल मंगलमय होगा। जब आप नाम को इस प्रकार पुकारेंगे, सचमुच चाहे वह भाव से लिया जाय, या कुभाव से लिया जाय, या क्रोध से लिया जाय, या आलस्य से लिया जाय, वह कल्याणकारी हो सकता है।

हमारे उड़िया बाबा एक बड़ी प्रसिद्ध गाथा सुनाया करते थे। वे उड़ीसा प्रान्त के थे और वहाँ का एक संस्मरण सुनाते थे। उड़ीसा में किसी गाँव के एक अपढ़ व्यक्ति ने गुरु से मंत्र लिया। उन्होंने देवी का मंत्र दे दिया – बड़ा आढ़ा-टेढ़ा। जब वह मंत्र का जप करता, तो बेचारा उन अक्षरों का ठीक से उच्चारण ही नहीं कर पाता। उलटा-सीधा जप किए जा रहा है, करना उसने नहीं छोड़ा। एक दिन देवी दुर्गा प्रगट हो गयीं और उसे धीरे से एक चाँटा लगाकर बोलीं – "अरे, तू कर क्या रहा है? मंत्र तो शुद्ध बोल।" उसने पूछा – शुद्ध मंत्र क्या है? माँ ने बताया – ऐसा है। माँ तो परीक्षा लेने आई थी, पर उसने ऐसा सुन्दर उत्तर दिया कि वे प्रसन्न हो गयीं। उसने कहा – माँ, आपकी सब बात मानूँगा, पर यह शुद्ध मंत्र वाली बात नहीं मानूँगा। – क्यों? बोले – अशुद्ध मंत्र के प्रभाव से तो आपको बताने के लिए आना पड़ा, उससे बढ़कर शुद्ध मंत्र हमें नहीं चाहिए।

साधनाओं का मूल तत्त्व यही है कि आप साधन साध्य में सही रहिये। आप अपनी वृत्ति स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहिये। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। व्याकरण की पाठशाला में माँ शब्द का उच्चारण ठीक से नहीं करेंगे, तो आप परीक्षा में अनुत्तीर्ण अवश्य किए जायेंगे। यह बिलकुल सही है। पर व्याकरण की पाठशाला में शब्द ही तो सिखाया जाता है न! वहाँ पण्डितजी से पूछिए – 'माँ' माने? तो कहेंगे – जननी। वह भी ठीक है। वहाँ शब्द के बदले में अर्थ मिलता है। पर याद रहे, वहाँ 'माँ' शब्द के पुकार में आप परीक्षा में पास होते हैं, पर माँ नहीं मिलती। और नन्हें बच्चे के रूप में जब आप माँ को पुकारते हैं, तो भले ही माँ का पर्यायवाची आपको ज्ञात न हो, पर माँ जरूर मिल जायेगी।

दोनों बातें अपने अपने स्थान पर ठीक है। नाम-साधना असंख्य पद्धतियों से की जाती हैं – योग की पद्धति से, भक्ति की पद्धति से, कर्मकाण्ड की पद्धति से, ज्ञान की पद्धति से। आपमें से बहुत-से लोग जानते भी होंगे – नाम-जप की अनेक तरह की साधनाएँ हैं। कोई बिलकुल धीरे-धीरे धीमी गति से 'राऽऽमऽऽ' उच्चारण करता है। कई लोग और भी विस्तार करते हैं – 'रा' कहने के बाद दीर्घ अवकाश देकर 'म' कहते हैं। कई लोग बहुत जल्दी-जल्दी राम-राम-राम कहकर जप करते हैं। कैसे जप करना चाहिए? धीरे-धीरे या बहुत धीरे या जल्दी-जल्दी? ये सभी पद्धतियाँ उपयोगी हैं। पर किसके लिए कौन-सी उपयोगी है, यह जानना बड़े महत्त्व का है। हम केवल इस बात को समझ लें कि हम किस स्थिति में हैं और किस पद्धति के द्वारा हमें नाम-जप करना चाहिए। जब अपनी वृत्ति के अनुकूल सही पद्धति से नाम-जप किया जाता है, तो नि:सन्देह मंत्र या नाम का जप तुरन्त फलदायी होने लगता है।

नाम-रामायण में नाम-महिमा की ओर आकृष्ट करने के लिए गोस्वामीजी ने ध्रुव और प्रह्लाद का नाम लिया – सकाम

भक्त का भी और निष्काम भक्त का भी। इसमें उनका संकेत मानो यह था कि आप चाहे जो हों, अपनी-अपनी शैली के अनुकूल आप चाहे मंत्र के तत्त्व पर विचार कीजिए, या मंत्र के भाव का रस लीजिए, या मंत्र की विधि का आश्रय लेकर आगे बढ़िये। जब आप अपने जीवन में सच्चे अर्थों में नाम-जप स्वीकार करते हैं, तो नाम की महिमा आपके जीवन में निश्चित रूप से प्रगट होती है।

मारीच ऐसे मन का प्रतीक है, जो रावण रूपी मोह के वशीभूत है। ऐसा मन, जो निरन्तर अपवित्र चिन्तन करता है। यज्ञ में भी रक्त-मांस की वर्षा करता है। पर ऐसा मन भी यदि मंत्रजप का आश्रय ले, तो उसका भला हो सकता है। पहले विश्वामित्र-जैसे किसी सन्त की प्रेरणा से भगवान हमारे मन पर बिना फल का बाण चला दें और उससे हमारे हृदय में भय की सृष्टि हो। भय की सृष्टि होने के बाद हम उनका चिन्तन करते हुए जिधर भी दृष्टि डालें, उधर राम का ही रूप दिखाई दे या राम शब्द ही सुनाई दे। भय के मारे भी शब्द सुनाई देने लगते हैं और प्रेम के अतिरेक में भी अपना अभीष्ट शब्द सुनाई देने लगता है। जो डर जाते हैं, उनको नि:स्तब्धता में भी सदा कोई ध्वनि सुनाई देता रहता है। यदि कोई आतंक में है, तो उसके मन में एक भयावना शब्द आता है; और प्रेम की पराकष्ठा में तो राम-नाम है ही। पद्म-पुराण में शंकरजी-विषयक एक बात कही गई है। एक बार पार्वतीजी ने 'रावण' शब्द का प्रयोग किया और शंकरजी नेत्र मूँदकर समाधि में चले गये। पार्वतीजी सोचने लगीं – "ये अपने चेले से इतना प्रेम करते हैं क्या? जो उसका नाम सुनकर समाधि में चले गये।" पर एक दिन 'राजा' कहा, तो भी समाधि में चले गये। एक बार 'रात्रि' कहा, तो भी समाधि लग गयी। एक दिन पार्वतीजी ने कहा – महाराज, मुझे एक प्रश्न पूछना है। – पूछो। – किन्तु महाराज, प्रश्न पूछने के लिए कुछ शब्दों के उच्चारण करने पड़ेंगे, उन्हें सुनते ही यदि आप समाधि में चले जायेंगे, तो प्रश्न अधूरा ही रह जायेगा और आप उत्तर भी नहीं दे सकेंगे, इसलिए किसी प्रकार मन को थोड़ा रोककर मेरा प्रश्न तो सुन लीजिए।" – पूछो। पूछ दिया – यह रावण, राजा और रात्रि – इन शब्दों को सुनकर आपको इतना आनन्द क्यों आता है? शंकरजी बड़े दुखी हुए। बोले – "तुमने तो अनर्थ कर दिया। ये जितने शब्द तुम कह रही हो, यह तो तुम्हारे कहने से ही मुझे सुनना पड़ा। मैंने तो इन्हें कभी सुना ही नहीं था।" पार्वतीजी बोलीं – महाराज, मैंने ये ही शब्द कहे थे। शंकरजी ने कहा – होता यह था कि तुम्हारे मुँह से 'र' अक्षर निकलता था, तो मैं समझता था कि तुम 'राम' ही कहोगी, कोई अन्य नाम लोगी नहीं, अत: मैं राम-नाम में डूब जाता था –

रकारा त्रीणि नामानि श्रृण्वतां मम पार्वती।
मनः प्रसन्नतां याति रामनामाभिशंकया।।

भय के अतिरेक में या प्रेम के अतिरेक में सर्वत्र राम-नाम ही सुनाई देने लगे, वही ध्वनि सुनाई देने लगे, तो बड़ी अच्छी बात है। यदि मृत्यु का भय हो और उसके भय से भी, काल के भय से भी मुँह से राम-नाम निकले, तो बड़ी अच्छी बात है। शंकरजी जब विवाह के लिए जाने लगे, तो उन्होंने सब अपसकुनों को अपने साथ ले लिया। किसी ने पूछा – महाराज, सकुनों को छोड़कर अपसकुनों को क्यों ले जा रहे हैं? भगवान शंकर बोले – "सकुन को देखकर जो वस्तु दिखाई देती है, उस ओर ध्यान जाता है; और जब कोई अपसकुन हो जाय, तो उसको देखकर तुरन्त मुँह से 'राम-राम' निकलता है। चाहे वह सकुन हो, या अपसकुन – जिससे 'राम-राम' निकले, वही श्रेष्ठ है। अत: चाहे जैसे भी हो, भय के मारे ही सही, हमें 'राम' शब्द सुनाई देने लगे, हमारे मुँह से 'राम' शब्द का उच्चारण होने लगे। उसके बाद भी हो सकता है कि मोह-रूपी रावण हमारा पीछा न छोड़े और वह हमें छल-कपट की दिशा में ले जाने की चेष्टा करे। तब हमें भी मारीच-वाला उपाय ही अपनाना होगा। मारीच ने दोनों तरफ मृत्यु को खड़ा देखा, तो श्रीराम की शरण ली –

उभय भाँति देखा निज मरना।
तब ताकिसि रघुनायक सरना।। ३/२६/५

असमर्थता की अनुभूति को ही शरणागति कहते हैं। दो बातें जब मिलती हैं, तो शरणागति में पूर्णता आती है – अपनी असमर्थता और ईश्वर की सामर्थ्य का बोध। यदि अपनी असमर्थता का ज्ञान हो, पर ईश्वर की सामर्थ्य का पता न हो, तो भी लाभ नहीं होगा। दूसरी ओर, अपनी समर्थता का ज्ञान हो और ईश्वर के सामर्थ्य का ज्ञान न हो, तो भी कल्याण नहीं होगा। शरणागति तब होती है, जब हमें यह पता चलने लगे कि मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ, रावण -रूपी मोह को मिटाने में समक्ष नहीं हूँ, तब हम प्रार्थना करेंगे – हे नाम-भगवान, मैं आपकी शरण में हूँ, आप कृपा कीजिए। आँखें बदल गईं। मन में परिवर्तन आया। मारीच को यह सूत्र मिला – भगवान मानो उसे कह रहे हों कि अभी तुम्हें ऐसा लग रहा है कि रावण की आज्ञा से स्वर्णमृग बनकर आना पड़ रहा था; परन्तु अब तुम समझ लो कि मुझे ही इन नाटक की पूर्णता के लिए एक पात्र की जरूरत है, अब तुम इस रूप में आओ। मारीच को लगने लगा – रावण का नहीं, यह तो प्रभु का ही संकल्प है, उन्हीं की इच्छा है।

कल कथा के अन्त में वह बात कही जा रही थी – जो कुछ होता है, वह प्रभु की इच्छा से ही होता है। यह भक्तों तथा ज्ञानियों में प्रचलित एक मत है। रामायण के अनेक प्रसंगों में भी ऐसा कहा गया है। परन्तु यह सूत्र समझकर उपयोग करने का है, क्योंकि इसके द्वारा तो व्यक्ति निश्चिन्त हो सकता है कि 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर कराता है।' लेकिन कठिनाई

तो यह है कि हम लोग जब मानते हैं, तो आधा ही मानते हैं। एक सज्जन ने कहा – "चोरी ईश्वर ने कराई, तो हमने किया, फिर जेल हमें क्यों मिलना चाहिए?" मैंने कहा – "जब सब कुछ वही कराता है, तो चोरी करने के बाद जेल भी तो वही दिलाता है। वह भी ले लीजिए। आप यह क्यों मानते हैं कि चोरी वह कराता है और जेल कोई दूसरा भेज देता है।" यह आधा मानना किस काम का? परन्तु मारीच का मानना सही मानना है। मारीच ने पूरा माना। सोचा – अब तो कपटमृग बनना है, छलमृग बनना है, तो बदले में यह नहीं होगा कि भगवान प्रसन्न होकर मुझे सम्मान देंगे। वह जानता है कि भगवान मुझे मारेंगे। यह अद्भुत बात है। नाटक के मंच पर यदि कोई अपराध का अभिनय करे, तो मंच पर तो उसे दण्ड ही तो मिलेगा! हाँ, नाटक के बाद भले ही उसके अच्छे अभिनय के लिये उसे पुरस्कार दिया जाय।

तो नाम-साधना करते-करते एक ऐसी स्थिति आती है कि विश्व में सब का प्रेरक जो दिखाई देता है। भगवान गीता (१८/६१) में कहते हैं – हे अर्जुन, ईश्वर सभी जीवों के हृदय में निवास करते हैं और देहरूपी यंत्र में आरूढ़ होकर अपनी माया से उसे परिचालित करते हैं –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।।

और 'मानस' में काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज गरुड़! श्रीराम ही मदारी के बन्दर की तरह सबको नचाते हैं –

नट मरकट इव सबहि नचावत ।
रामु खगेस बेद अस गावत ।। ४/७/२४

यह जप का एक महान् फल है। पहले हम अपने मन को मोह से हटाने की चेष्टा करें, मोह को दूर करने की चेष्टा करें, परन्तु मोह को यदि दूर न कर सकें, तो हम प्रभु से ही – प्रभु के नाम से ही कहें – प्रभो, अब मैं क्या करूँ?

तब एक परिवर्तन होता है – जप के द्वारा सर्वत्र ईश्वर का हाथ, ईश्वर का संकल्प, ईश्वर की प्रेरणा दिखाई देने लगती है। मारीच में उसी वृत्ति का उदय हुआ – नकली नहीं, बल्कि वास्तविक हुआ। तब एक बहुत बड़ी बात आ गई। मन कितना बदल गया। जिस मारीच को एक दिन मृत्यु के डर से भगवान का रूप दिखाई देता था, आज उसमें इतना परिवर्तन आ गया कि वह मृत्यु की कल्पना करके आनन्द में भर गया। यही है जप का फल। यही कसौटी है।

जब तक मृत्यु के भय से नाम ले रहे हैं, वह भी अच्छा है, जरूर लेना चाहिए। लेकिन अन्त में मारीच के समान परिवर्तन आना चाहिये, दिखना चाहिये कि अरे, इस मृत्यु से क्यों डरना, इसके पीछे भी तो उन्हीं प्रेममय प्रभु का हाथ है!

एक बार हनुमान प्रसादजी पोद्दार ने महात्मा गाँधी को एक पत्र लिखा। उन्होंने स्वप्न देखा था कि शीघ्र ही गाँधीजी की मृत्यु होने वाली है। (यह गाँधीजी की मृत्यु के कई वर्ष पहले की बात है)। उन्होंने पत्र में लिखा कि मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, अतः अब तो आपको सब काम छोड़कर अधिक-से-अधिक समय राम-नाम ही लेना चाहिए। महात्माजी ने उसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। पोद्दारजी वह उत्तर दुहराया करते थे। उन्होंने लिखा था – "भाई हनुमान प्रसाद, आपने बड़े प्रेम से लिखा। यह तुम्हारा सद्भाव है। मगर तुम यह क्यों कहते हो कि मैं मृत्यु के भय से राम-नाम लेने लगूँ? राम-नाम तो हमारे लिए जीवन और प्राण है। कभी कोई व्यक्ति क्या अपने प्राण के लिए यह निर्णय लेता है कि किस समय सांस लेना चाहिए और किस समय सांस कम कर देना चाहिए।" मारीच के जीवन में भी एक स्थिति भयवाली थी। जिसके जीवन में इतना भय था, अब उसमें इतनी निर्भयता आ गई कि वह हर्षित भाव से सोचने लगा – आज मैं अपने परम स्नेही श्रीराम को देखकर नेत्रों को सुखी और सार्थक करूँगा। आनन्द-सागर प्रभु अपने हाथों से बाण साधकर मेरा वध करेंगे –

मन अति हरष जनाव न तेही ।
आजु देखिहउँ परम सनेही ।। ३/२६/८
निज परम प्रीतम देखि लोचन
सुफल करि सुख पाइहौं । ...
निज पानि सर संधानि सो
मोहि बधिहि सुखसागर हरी ।। ३/२६/छं.

मैंने देखा है कि हम लोगों के जीवन में थोड़ी भी प्रतिकूल घटना हो जाय, तो कई लोग भगवान के चित्र-मूर्ति आदि भी नदी में बहा देते हैं। कहते हैं – क्या रखा है भगवान में? पर मारीच को मालूम है कि भगवान मारेंगे, तो भी वह हर्षित है। बस, यही कसौटी है – भगवान के नाम का जप करते-करते मन इतना बदल जाय कि मृत्यु की कल्पना में आनन्द की अनुभूति हो। मारीच कहता है – "अरे, भगवान जब किसी पर कृपा करते हैं, तो वे अपना एक हाथ उसके सिर पर रख देते हैं। मुझ पर कृपा करने के लिए तो धनुष-बाण पर दोनों हाथ रखते हैं।" वह कितना सौभाग्यशाली है, उस पर बड़ी कृपा है कि प्रभु को दोनों हाथों का प्रयोग करना पड़ रहा है। **निज पानि** – अपने हाथों से मारेंगे। सहसा राह चलते कोई आपकी आँखें बन्द कर दे, तो आपको बड़ी घबराहट लगेगी कि कोई लुटेरा लूटना तो नहीं चाहता! पर यदि उस हाथ के स्पर्श से आपको पता चल जाय कि अरे, यह तो हमारा मित्र है, तो आँखें बन्द होने पर भी आप मुस्कुराकर कहेंगे – अच्छा अच्छा, मैं पहचान गया। इसी प्रकार भक्त भी भगवान के हाथों को पहचानते हैं। – अच्छा, मृत्यु आपने भेजी है, दुःख आपने भेजा है? यदि आपने भेजा है, तो आपसे बड़ा प्रियतम हमारा कौन है? ईश्वर से बढ़कर जीव का कोई प्रियतम नहीं। "आपने ही भेजा है, तो इससे बढ़कर आपका प्रेम क्या होगा? निमंत्रण

आपका है।'' जब कोई मित्र आपको भेंट भेजे तो आप उसे धन्यवाद देते हैं। जब ईश्वर सुख देता है, भेंट भेजता है, तो उसे धन्यवाद दीजिए; परन्तु जब वह मृत्यु को भेजे, तो समझ लीजिए कि अब भेंट नहीं, अब तो निमंत्रण भेज रहा है – ''मिले बहुत दिन हो गये, अब तुम आ जाओ, तो मिल लें।''

यह मन के परिवर्तन की प्रक्रिया है। कितना बदल गया? अब वह मन सुनहला दिखाई दे रहा है और भक्ति देवी की कृपा हुई, माँ ने देखा और प्रभु से कहा – ''प्रभो, यह मन अब भी अपनी चंचलता को दूर नहीं कर रहा है, अब आप ही जरा इसकी चंचलता को नष्ट कर दीजिए।'' वध क्या हैं? वध माने प्राणदण्ड। पर मारीच कितना प्रसन्न हो रहा है ! जब मारीच चलने लगा, तो वह जो कुछ सोच रहा है, भगवान ने वही किया। कह लीजिये कि मन में जो आया, भगवान ने वही पूरा किया; या कह लीजिए कि भगवान के मन में जो आया, वही भगवान ने पूरा किया, या कह लीजिए कि जो भगवान के मन में था, वही मारीच के मन में आया। उसने कल्पना की कि भगवान आज मेरे पीछे दौड़ेंगे। वह कोई योगी था क्या? वह यह भी तो सोच सकता था कि इस बार प्रभु बैठे-बैठे ऐसा बाण मारेंगे कि मैं मर जाऊँगा। परन्तु मारीच कहता है – बिलकुल नहीं, धनुष-बाण धारण किए अपने पीछे-पीछे धरती पर दौड़ते हुए प्रभु को मैं मुड़-मुड़कर देखूँगा –

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ
धन्य न मो सम आन।। ३/२६

मारीच कहता है – संसार में इतने बड़े-बड़े भक्त और सन्त हुए, पर मेरे समान धन्य कोई नहीं हुआ। – ''अरे, तुम इतने अभिमान की भाषा बोल रहे हो? अन्य भक्तों से तुम बड़े हो क्या?'' बोले – ''बड़े तो नहीं हैं, पर आज तक जितने भक्त हुए हैं, वे सब भगवान के पीछे भागे। मैं ही वह पहला भक्त हूँ, जिसके पीछे भगवान भागेंगे। तो मुझसे बड़ा कौन है?'' मानो मन ने भगवान से कह दिया – ''प्रभो, हम तो अपनी चंचलता दूर नहीं कर पाते, अपने स्वभाव को छोड़ नहीं पाते। आपके सामने आकर भी विमुख हो जाते हैं। लेकिन आप ही कृपा करके मुझे पकड़ने की चेष्टा करें !'' इसलिए मारीच जा रहा है आगे-आगे और मुड़-मुड़कर पीछे देख रहा है।

असमर्थ भक्त के इसी भाव को व्यक्त करने हेतु गोस्वामीजी ने जिह्वा को यशोदा और नाम को कृष्ण-बलराम कहा है। सुननेवाले को आश्चर्य हुआ कि जिह्वा को कौशल्या न बनाकर, यशोदा क्यों बना रहे हैं? – जिनकी जिह्वा कौशल्या हो, वे कौशल्या के रूप में साधन करें, पर मेरी जिह्वा तो यशोदा की तरह है। यशोदा गाढ़ी नींद में सो रही थी और वसुदेवजी ने भगवान कृष्ण को यशोदाजी के बगल में सुला दिया, फिर भी उनकी नींद नहीं खुली। वसुदेवजी के बाहर जाते ही भगवान ने रोना शुरू किया, जिसे सुनकर यशोदा की नींद खुल गई और उन्होंने श्रीकृष्ण को गोद में उठा लिया। गोस्वामीजी बोले – मेरी जिह्वा कौशल्याजी की तरह जग नहीं रही है, यशोदाजी की तरह सो रही है। कई लोग दीपावली की अमावस्या की रात में बैठकर मंत्र जपते हैं। उसके लिए एक प्रचलित वाक्य है – मंत्र जगा रहे हैं। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा – राममंत्र को जगाने के लिए क्या करना होगा? उन्होंने कहा – मेरे पास ऐसा कोई मंत्र नहीं है, जिसे जगाना पड़े, हमें तो ऐसा मंत्र चाहिए, जो हमें जगाये। हमारी जीभ तो यशोदा की तरह सो रही है। ऐसी असमर्थता की अनुभूति लेकर जब मन प्रभु के सामने आता है, तो वे उसके पीछे दोड़ते हैं – मन भाग रहा है, मुड़-मुड़कर देख रहा है, मैं भाग रहा हूँ और प्रभु पीछा कर रहे हैं। सचमुच ऐसी दौड़ ही होड़ होने पर नाम-भगवान करुणा के मारे साधक के पीछे पड़ जाते हैं और तब? प्रभु मानो मारीच से पूछ रहे हैं – क्यों भाग रहे हो? बोले – इसलिए भाग रहा हूँ कि आपने तो सिद्धान्त बना लिया है – निर्मल मनवाला मुझे प्रिय है। मुझे कपट, छल, छिद्र अच्छा नहीं लगता –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। ५/४४/५

– तो भाग क्यों रहे हो? आगे छोड़कर पीछे क्यों देख रहे हो? मारीच बोला – महाराज, मुझे आपके इस नियम के बारे में पता चल गया है कि आपको कपट-छल-छिद्र मनवाला नहीं पा सकता, पर आपने यह नियम तो नहीं बनाया है कि आप कपट-छल-छिद्र मनवाले को नहीं पा सकते। हम आपको नहीं पा सकते, तो आप ही हमें पा लीजिए। यदि हम भाग रहे हैं, तो भी हमारी दृष्टि पीछे दौड़ते हुए भगवान की ओर, नाम की ओर हो। अन्त में भगवान का बाण चलता है – अद्वैत का, एकत्व का दिव्य बाण। बाण लगते ही कपट-छल का शरीर छूट जाता है और मारीच भगवान में विलीन हो जाता है – देवता फूल बरसा रहे हैं, प्रभु का गुणगान कर रहे हैं कि वे ऐसे उदार हैं कि उन्होंने असुर को भी अपना परम पद दे दिया –

बिपुल सुमर सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुन गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ।। ३/२७

यह बताना ही नाम-रामायण का उद्देश्य है कि कैसे हमारी बुद्धि अहल्या हो गई है, कैसे हमारी बुद्धि में ताड़का-वृत्ति आ गई है, कैसे हमारे मन में मारीच-वृत्ति आ गई है और कैसे भगवान के नाम का जप करने से ये सारे विकार दूर हो सकते हैं। गोस्वामीजी पुकारकर कहते हैं – हे जिह्वा, राम-राम जपो, राम-राम रटो, राम-राम रमो –

राम राम जपु राम राम रटु राम राम रमु जीहा।।

जपो, रटो, रमो – ये तीन शब्द क्यों कहे? मन की तीन स्थितियाँ होती हैं – कभी वह शान्त होता है, कभी दुखी

(शेष पृष्ठ ४६७ पर)

भय की वृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

भय मन की एक विचित्र वृत्ति है, जो व्यक्ति को कमजोर बना देती है। हममें जाने कितने प्रकार का भय समाया रहता है। यदि हम विश्लेषण करके देखें, तो अधिकांश प्रसंगों में हमारा भय निराधार साबित होता है। कई लोग भूत से डरते हैं। मैंने अब तक भूत के भय की लगभग ५० घटनाएँ देखी होंगी, पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि सभी की सभी निराधार थीं, वे महज काल्पनिक घटनाएँ थीं। वास्तव में व्यक्ति को कल्पना का भूत ही सताता है। जब हम अकेले किसी अँधेरे स्थान से गुजरते हैं, तो हमारा हृदय एक अज्ञात भय से धड़धड़ाने लगता है और हमें पत्थर या वृक्ष भी चलते-फिरते भूत के रूप में दिखायी देने लगता है। इसका कारण है हम पर बचपन में डाले गये भय के संस्कार।

जब माताएँ छोटे बच्चे को किसी काम से रोकना चाहती हैं, तो वे हौआ का डर दिखाती हैं। यह हौआ का डर हमारे भीतर इतना रूढ़ हो जाता है कि वही कालान्तर में हमारे महान् भय का कारण बनता है। हम यदि जंगल में से गुजर रहे हों, तो सतत वन्य पशुओं का भय हमें आक्रान्त करता रहता है। सामान्य दृष्टि से यह भय नितान्त स्वाभाविक प्रतीत होता है, और कहा जा सकता है कि भला किसे जंगल में जंगली जानवरों का डर न होगा? पर प्रश्न यह है कि क्या वह डर हमें कमजोर नहीं बना देता? भय का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह मनुष्य को शक्तिहीन कर देता है। जो व्यक्ति सिंह-विक्रम प्रकट कर सकता था वही भयाक्रान्त होकर गीदड़ की तरह हो जाता है।

एक बार मैं लोनावला में नहर के पार पर से चला जा रहा था। वह पार लगभग १८ इंच चौड़ा है – सीमेंट कांक्रीट का बना हुआ। जहाँ तक वह पार जमीन से ३-४ फुट ऊँचा था, वहाँ तक तो मैं मजे से चला गया, पर कुछ दूर पर एक नाला आया, तो पार वहाँ पर जमीन से २५-३० फुट की ऊँचाई पर था। मैंने देखा कि अचानक मेरे पैर काँपने लगे। मैं चलने में असमर्थ हो गया - लगता कि अब गिरूँगा तब गिरूँगा। लगभग ५० फुट की लम्बाई मैंने बड़ी कठिनाई से, बैठे बैठे पार की। अब यह क्या था? उतने ही चौड़े पार पर मैं पहले मजे से चल रहा था, और कुछ समय बाद मैं चल नहीं पाया। यह भय था - गिरने का भय। भय ने मेरा विश्वास छीन लिया और मेरी शक्ति दब गयी।

एक बार मैं बण्दीपुर के वन में पर्यटन विभाग की जीप में सैर कर रहा था। इतने में लगभग २०० मीटर की दूरी पर एक इक्कड़ हाथी दिख पड़ा। हम लोगों को देखते ही उसने सूँड़ उठाकर हम लोगों की तरफ दौड़ना शुरू किया। चालक इतना घबरा गया कि उसका सन्तुलन बिगड़ गया और जीप एक चट्टान से टकराते टकराते बची। यह भय है, जो हमारा सन्तुलन हर लेता है। हाथी तो बाद में मारता पर चालक का भय हमारे लिए तो पहले ही काल बनने जा रहा था। क्या ऐसे भय को जीता जा सकता है? हाँ। मैं तब स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश के लगभग १५ मील ऊपर वसिष्ठ गुफा में रहता था। बड़ा ही घना जंगल था तब। दिन में वन्य पशु दिखायी पड़ जाते थे। मुझे बहुत डर लगता था। उसके कारण मेरी साधना में भी व्यतिक्रम होता था। तब वहाँ के एक तपोनिष्ठ संन्यासी ने मुझे समझाते हुए कहा – "अच्छा, बताओ, तुम क्यों डरते हो?" मैं कोई उत्तर न दे पाया। उन्होंने स्वयं उत्तर देते हुए कहा – "आखिर मृत्यु का ही तो तुम्हें डर है न? यही तो सोचते हो न कि जंगली जानवर तुम्हें मार डालेंगे?" मेरे अन्दर कुछ बिजली-सी कौंध गयी। मैंने उनसे कहा – "जी हाँ, डर का कारण यही मालूम होता है।" वे बोले – "ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि मौत जंगली जानवर के हाथों लिखी हो, तो कोई रोक नहीं सकता और न लिखी हो, तो बाल भी बाँका नहीं हो सकता? ऐसा बारम्बार विचार उठाकर यदि तुम इस तर्क को अपने भीतर पैठा लोगे, तो दिन में जो कई बार डर के मारे तुम मरते रहते हो, उससे तुम्हारी रक्षा हो जायगी।"

बात थी तो बहुत सरल और सामान्य-सी दिखनेवाली, पर उस तर्क ने धीरे धीरे मेरे भय को जीत लिया। कोई कह सकता है कि यह पलायनवाद है और इसको स्वीकार करने से मनुष्य असावधानी को प्रश्रय देगा, पर मेरी समझ में वस्तुस्थिति उल्टी है। यह वर्तमान में सही ढंग से जीने की शिक्षा है।

आत्माराम के संस्मरण (२८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

काठियावाड़ के लाठी राज्य में (१९२९)

भयंकर ठण्ड पड़ रही थी। उस वर्ष उधर शीतलहर चल रही थी। नदी के किनारे के जल पर बर्फ की परत जम जाती थी। संन्यासी काठियावाड़-दर्शन के लिये निकला था।

लाठी एक छोटा राज्य है। संन्यासी ने उस राज्य के स्वर्गीय राजा कलापी के बारे में सुन रखा था। वे गुजराती भाषा के अद्‍भुत विद्वान् थे। गुजराती भाषा में भी पुरुषोचित तेजस्वी भाव की अभिव्यक्ति करना सम्भव है, यह उन्होंने अपनी कविता आदि के माध्यम से दिखा दिया था। कुछ दिनों पूर्व वे दिवंगत हो गये थे। उनके चचेरे भाई के साथ संन्यासी का परिचय था। वे राज्य के कार्य में ही नियुक्त थे।

लाठी में राजा की ओर से मन्दिर तथा सन्त-सेवा की व्यवस्था थी। संन्यासी वहीं पर ठहरा और करीब १५ दिन रहा। साधु महन्त गिरि अच्छे व्यक्ति थे। उन्हीं के आग्रह से वहाँ रहना सम्भव हो सका था। एक दिन वहाँ ... ... एक वैरागी साधु आया। उस समय महन्त के चेले-पुजारी के बीमार पड़ जाने के कारण वे बड़ी कठिनाई में पड़ गये थे। वैरागी ने आते ही भोजन पकाना, ठाकुर के लिये फूल चुनना, बर्तन माँजना आदि सभी कार्य आरम्भ कर दिया। फिर रात में चरण-सेवा भी करता। महन्त बड़े खुश थे। उसे आये ५-६ दिन हो गये थे। महन्त ने संन्यासी को और वहाँ पहले से ही निवास करनेवाले एक अन्य साधु से कहा – "यह वैरागी बड़ा अच्छा है। मुझसे संन्यास-दीक्षा माँग रहा है। आप लोग क्या कहते हैं?" दूसरे साधु तो सहमत होकर बोले – दे दीजिये; परन्तु संन्यासी राजी नहीं हुआ। बोला – "उसे कुछ दिन देखिये। वैरागी है, अभी-अभी आया है। सहसा संन्यासी क्यों होना चाहता है? मनुष्य को कुछ दिन देखे बिना समझा नहीं जा सकता, विशेषकर जब वह एक सम्प्रदाय छोड़कर दूसरे में आना चाहता हो।" परन्तु एक ओर लोकाभाव था और दूसरी ओर वैरागी भूत के समान मेहनत करता था। अत: महन्त को लोभ हुआ। उन्होंने मन्दिर की देवसेवा भी उसी को सौंप दी। वह बड़े यत्नपूर्वक पूजा करने लगा। शृंगार आदि बड़ा सुन्दर करता था। मन्दिर तथा भण्डार के बाकी सारे कार्य भी करता था।

एक दिन उसे संन्यास देने का निश्चय करके उन्होंने उस अवसर पर संन्यासी को भी उपस्थित रहने का अनुरोध किया। संन्यासी ने अपना विरोध प्रकट करते हुए मना कर दिया; दूसरे साधु राजी हुए। संन्यास सम्पन्न हो गया। वैरागी गेरुआ पहनकर ठाठ से घूमने लगा।

दो दिन बाद ही संन्यासी लाठी से बिदा हुआ। उसी कारण से उसे वहाँ न ठहरना ही उचित लगा। दो महीने बाद राजकोट लौटने के बाद सुनने में आया कि वैरागी (ठाकुर के) १०-१२ हजार के सोने के गहने लेकर भाग गया है। पुलिस उसकी तलाश कर रही है। वह चोरी करने के उद्देश्य से ही चेला बना था। लाठी के महन्त ने संन्यासी को सूचना भेजते हुए कहा था – "आपने ठीक ही कहा था। वह अपने मतलब के लिये ही चेला (संन्यासी) बना था।" बाद में संन्यासी से ऋषीकेश के बारे में जानकारी लेने के उपरान्त वे महन्त की गद्दी छोड़कर चले गये।

संन्यासी लाठी के बाद बाबरा जाने के रास्ते में पड़नेवाले चोर-बड़ोदरा में ठहरा। वहाँ जाकर वह गाँव के बाहर स्थित एक शिव-मन्दिर के सामने के कुएँ के जल से स्नान करके वहीं बैठ गया। एक ब्राह्मण शिव-पूजा करने आये। पूजा के बाद संन्यासी के साथ बातचीत करने के बाद बोले – "एक घण्टे के बाद आकर भिक्षा के लिये ले जाऊँगा।"

बुलाने आये। संन्यासी के पास एक छोटी-सी थैली थी, जिसमें एक गरम चादर, १०८ उपनिषदों की पुस्तक (मूल संस्कृत), एक छुरी, मोमबत्ती, दियासलाई, दो धोतियाँ तथा एक गमछा रखे हुए थे। संन्यासी ने पूछा – "इसे साथ ले चलें या मन्दिर में ही रख जायँ।" वे बोले – "सब मन्दिर में ही छोड़ दीजिये, यहाँ भय की कोई बात नहीं है।" संन्यासी को बाद में ज्ञात हुआ कि गाँव का नाम चोर-बड़ोदरा है।

घर ले जाकर भोजन के लिये बैठाने के बाद ब्राह्मण मास्टर – कुछ काम है – कहकर चले गये। खा-पीकर मन्दिर में लौटने के बाद संन्यासी ने देखा कि केवल धोतियाँ पड़ीं हैं, बाकी सब कुछ गायब है। साथ में वहाँ के स्कूल का एक लड़का भी आया था – हेडमास्टर ने भेजा था। संन्यासी के कहने पर उसने जाकर हेडमास्टर को सूचित किया। वे स्वयं आये और संन्यासी को लेकर स्कूल गये और वहीं ठहराने की व्यवस्था की। पुलिस के सब-इंस्पेक्टर

वहाँ किसी मामले की तहकीकात करने आये हुए थे। हेड-मास्टर उन्हें बुला लाये। उन्होंने सब सुनने के बाद पूछा – "किस-किस पर सन्देह होता है?" संन्यासी को सन्देह था कि जिन्होंने बुलाकर भिक्षा दी थी, यह उन्हीं का कार्य है, क्योंकि उसी स्कूल के शिक्षक होने के बावजूद वे अब किनारा काट रहे थे और पुलिस को देखकर उनका मुख सूख गया था। संन्यासी कुछ बोलना नहीं चाहता था – केवल उपनिषदों की पुस्तक मिल जाने से ही वह सन्तुष्ट हो जाता। निश्चित हुआ कि गाँव में ढिंढोरा पीटा जायेगा कि जिस किसी ने भी लिया हो, वह दया करके वह पुस्तक उसी शिव-मन्दिर में अथवा अमुक-अमुक स्थानों में से कहीं रख दे, तो संन्यासी उसका बड़ा आभारी होगा। तीन दिनों तक उसी स्कूल में रहना-खाना हुआ, परन्तु पुस्तक नहीं मिली।

संन्यासी यदि बोल देता, तो मास्टर कठिनाई में पड़ जाते। उसके बाद यदि पुलिस केस हो जाता, तो संन्यासी और मास्टर – दोनों को ही अदालत में हाजिरी देते-देते परेशान हो जाना पड़ता। इसी कारण हेडमास्टर द्वारा स्वयं भी सन्देह जताने पर संन्यासी चुप ही रहा। उसी गाँव के एक अन्य ब्राह्मण, जो बम्बई में व्यवसाय करते थे, उस समय गाँव में ही उपस्थित थे। उन्होंने निमंत्रण देकर भोजन कराया और खद्दर का एक मोटा चादर दिया और दियासलाई आदि रखने के लिये एक छोटी थैली भी दी। जाड़े का मौसम होने के कारण वह सब काफी उपयोगी सिद्ध हुआ था।

संन्यासी वहाँ से बाबरा गया। बाबरा में भोजन आदि करने के बाद, धेला-सोमनाथ जाने का रास्ता पूछने पर एक व्यक्ति ने बता दिया – सामने ही एक छोटा पहाड़ दिख रहा था, रास्ता छोड़कर उसे पार कर लेने पर जल्दी पहुँचा जा सकेगा। उस पहाड़ पर चढ़ने का कोई रास्ता नहीं था।

संन्यासी किसी प्रकार चढ़ने लगा। बड़ी कठिनाई से जब वह ऊपर पहुँचा, तब तक संध्या हो चुकी थी और दूसरी ओर उतरने का रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था, बल्कि नीचे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। वहाँ कोल जाति की देवी का स्थान था – एक पत्थर पर सिन्दूर लगाया हुआ। चारों ओर फोड़े हुए नारियलों के रेशे और मनसा-झाड़ी के सूखे डण्ठल बिखरे पड़े थे। और कोई चारा न देख, संन्यासी ने वहीं रात बिताने का निश्चय किया। जोर की ठण्डी हवा लगने से हड्डी तक काँप उठती थी। पहाड़ के ऊपर किसी प्रकार का आड़ नहीं था। संन्यासी ने इधर-उधर से कुछ पत्थर के टुकड़ों को एकत्र करके आड़ करने का प्रयास किया और नारियल के रेशों तथा मनसा के सूखे डण्ठलों से आग जलाकर शरीर को गरम करने की चेष्टा करने लगा। जोर की हवा चल रही होने के कारण शीघ्र ही वह सब जलकर राख में परिणत हो गया। और कोई उपाय न देख, संन्यासी ने उस मोटे चादर से अपने पूरे शरीर को ढँक लिया और कुत्ते के समान कुण्डली मारकर पड़ा रहा। भीतर कँपकँपी हो रही थी, परन्तु दूसरा कोई उपाय भी तो न था।

रात किसी प्रकार बीती, सुबह अरुणोदय होने पर उसे पगडण्डी दिखाई पड़ी। नीचे उतरने में काफी समय लगा। देखा – थोड़ी दूरी पर कुएँ के जल से गेहू के खेत की सिंचाई हो रही थी। संन्यासी वहीं गया और कुएँ से निकाले जा रहे गरम पानी (शीतकाल में सुबह कुएँ का पानी काफी गरम रहता है) से स्नान करके तरोताजा महसूस करने लगा। किसान बोला – "गाँव में नहीं जायेंगे! वह सामने दिख रहा है। उधर से होकर ही सोमनाथ का रास्ता है। गाँव बड़े रास्ते के किनारे ही है। यदि पहाड़ पर न चढ़कर रास्ते से होकर आते, तो आराम से संध्या के पूर्व ही पहुँच जाते।" परन्तु यदि जगदम्बा कृपा करके न बचायें, तो जो दुर्भोग जिसके कपाल में लिखा है, वह उसे भोगना ही पड़ेगा।

गाँव के द्वार पर ही बच्चों की पाठशाला थी। शिक्षक ने संन्यासी को देखते ही आदरपूर्वक बुलाकर बैठाया और भिक्षा लेकर ही जाने को कहा। गाँव के पटेल के घर में उस दिन किसी पर्व के उपलक्ष्य में भोज का आयोजन चल रहा था। मास्टर वहाँ जाकर संन्यासी के लिये सीधा आदि सामान भेजने को कह आये। मास्टर ब्राह्मण था, उनके यहाँ नहीं खायेगा, स्वयं पकायेगा। थोड़ा पहले ही स्कूल की छुट्टी करके भोजन पकाने चला गया – उसकी गृहिणी नहीं थी। उसने दो बजे हलुआ, पूरियाँ तथा सब्जी का भोजन कराया।

पूछने पर पता चला कि सोमनाथ निकट ही है – केवल सात मील दूर। संन्यासी फिर वन के मार्ग से रवाना हुआ, क्योंकि शार्ट-कट अब भी बाकी था। "डाकू भी पथ-प्रदर्शक बना" शीर्षक के साथ 'मानवता की झाँकी' (नागपुर, पृ. १९) पुस्तक में इसका वर्णन हुआ है। यहाँ केवल इतना बताना ही यथेष्ट होगा कि फिर रास्ता भूल जाने के कारण अपार कष्ट हुआ था और अन्त में कोलियों के गाँव – शानपुरा में रात बिताने के बाद जसदन गया।

जसदन में

संध्या हो रही थी। जसदन पहुँचते ही एक घुड़सवार मिला। वह अपने घोड़े को पानी पिलाने आया था और "जय स्वामी नारायण" कहकर उसने संन्यासी का अभिवादन किया था। उससे पूछा – "बाहर कोई शिव-मन्दिर है क्या, जहाँ रात बिताई जा सके?" "आप स्वामी नारायण नहीं हैं" – यह कहकर वह चुपचाप अपना घोड़ा लेकर चला गया।

गुजरात के काठियावाड़ में स्वामी-नारायण सम्प्रदाय है। ये लोग बड़े कट्टर हैं। ये लोग योगी और त्यागी – ऐसा दो विभाग करते हैं। जो अब्राह्मण हैं, वे त्यागी साधु होते हैं

और गेरुए के समान लाल वस्त्र पहनते हैं। ब्राह्मण लोग योगी कहलाते हैं और सफेद वस्त्र पहनते हैं। अन्य सभी सम्प्रदायों के लोग इनके लिये असत्-संगी हैं; और ये लोग स्वयं सत्-संगी हैं। इसीलिये उनके लिये उपदेश है कि अन्य सम्प्रदाय के किसी के भी साथ बातचीत मत करना। सहजानन्द या श्रीजी महाराज इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। स्वयं दशनामी होकर भी इन्होंने अपना अलग पन्थ चलाया था।

धेला सोमनाथ

जसदन में रात बिताने के बाद संन्यासी अगले दिन धेला सोमनाथ गया। धेला सोमनाथ बड़ा सुन्दर स्थान है। चारों ओर पहाड़ तथा जंगल हैं। एक झरना भी है, जिसका पानी खूब स्वच्छ है। महन्त पुजारी गोसाईं, किन्तु अविवाहित तथा दूधाधारी हैं अर्थात् केवल दूध का ही आहार करते हैं, अन्न नहीं खाते। केवल दूध पीकर रहते तब तक (१९२९ ई. में) उन्हें बारह वर्ष हो चुके थे। बहुत-सी गायें थीं। खूब दूध होता था। संन्यासी से भी बोले – ''रहिये, जितना भी हो सके दूध पीजिये।'' यह कहने पर कि ''केवल दूध के ऊपर रहना सम्भव नहीं हो सकेगा'' – भिक्षा में रोटला तथा दूध देने की व्यवस्था हुई। शाक-सब्जी आदि नहीं थी।

गड़ेरिये से भेंट

संन्यासी वहाँ १०-११ दिन रहा। वह प्रतिदिन भोजन आदि करने के बाद नदी के किनारे जंगल में चला जाता। उधर एक तरह का बबूल का पेड़ होता है, जो अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखता। देखने में लगता है मानो ठीक पुलिस के सार्जेंट साहब की टोपी हो। उसकी पतली-पतली डालियाँ गोलाकार होकर नीचे झुककर मिट्टी का स्पर्श करती रहती हैं। मानो एक हरा-भरा तम्बू हो। उसमें बड़े-बड़े काँटे होते हैं, अत: कोई जंगली जानवर उसके भीतर नहीं घुस सकता।

गड़ेरिये तथा आदिवासी लोग इन पेड़ की डालों को छाँटकर एक छोटा-सा दरवाजा बनाकर रखते हैं। वे लोग उसी में अपने बाल-बच्चों को रखकर निर्भयतापूर्वक भेड़-बकरियाँ चराने चले जाते हैं। संन्यासी ने एक ऐसे ही घिरे हुए वृक्ष के भीतर खाली स्थान देखा। वह उसी में शाम तक बैठा रहता और उसके बाद मन्दिर में चला जाता।

एक दिन दोपहर को संन्यासी उसी में बैठा हुआ था। उसने देखा कि एक गड़ेरिया अपनी बकरियों के साथ उधर आया। वह बकरियों को पानी पीने के लिये छोड़कर स्वयं एक पत्थर के ऊपर बैठ गया। इसके बाद वह एक-एक दूध देनेवाली बकरी को पकड़ता और उनके पीछे के दोनों पाँवों के बीच से दूध खींचता हुआ गर्र् की आवाज के साथ सीधे अपने मुँह में डालने लगा और उसके साथ ही रोटी के टुकड़े भी खाने लगा। उसने इसी पद्धति से बड़ी रुचिपूर्वक ६-७ बकरियों का दूध पीया। इसके बाद पानी पीने चला गया।

उसे नहीं मालूम था कि संन्यासी अपने हरे-भरे तम्बू में बैठा हुआ सब कुछ देख रहा है। गड़ेरिये का खाना-पीना हो जाने के बाद संन्यासी बाहर निकल आया और उसकी ओर देखकर हँस पड़ा। पूछा – ''कोई बरतन क्यों नहीं रखते?''

उत्तर – ''जी, बरतन खो जाने का भय है, इसीलिये नहीं रखता। इसी प्रकार रोटियाँ खा लेता हूँ। अपना कमण्डलु दीजिये – दूध मीठा है। संन्यासी ने धन्यवाद देते हुए कहा – ''पेट भरा हुआ है।''

उसका स्वास्थ्य काफी अच्छा था, चेहरा लालिमा से पूर्ण था, लगता था मानो फटकर रक्त निकल आयेगा। मानो दुख का कोई कारण उसके पास भी न फटकता हो।

संन्यासी – ''भेंड़-बकरियों के साथ बड़े मजे में हो। तुम लोगों को कोई दु:ख-कष्ट नहीं है।''

गड़ेरिया – ''पहले हम लोग बड़े सुख में थे। भरपेट रोटला और दूध-दही खाते थे और 'धन' (गाय, भेंड़, बकरियाँ आदि) चराया करते थे। राजा को टैक्स के रूप में साल में एक बकरा और हर जानवर के पीछे एक आना देना पड़ता था; परन्तु नये दीवान ने उसे बढ़ा दिया है – दो बकरे और हर भेंड़-बकरी के पीछे दो आने। गाय-भैंस के लिये पाँच-पाँच रुपये देने पड़ते हैं। फिर सारे चरागाह उसने ठेकेदारों को दे दिये हैं। इससे राज्य को खूब पैसे मिलते हैं, परन्तु इसी कारण इन जानवरों का पेट नहीं भरता। इस पथरीली झाड़-झंखाड़ वाली जगह में थोड़ा-बहुत ही होता है, उसी को ये चरते हैं और सूखे पत्ते खाते हैं। ठेकेदार द्वारा घेरे हुए जमीन में जाते ही दण्ड देना पड़ता है। हम लोग तो परेशान हो गये हैं। अब घर-बार छोड़कर कहाँ जायँ?''

संन्यासी ने देखा कि वह दु:खों से मुक्त नहीं है, परन्तु खुली जलवायु में चलता-फिरता है और शुद्ध आहार करता है, इस कारण स्वास्थ्य अच्छा रहता है और इसीलिये उसका पूरा शरीर इतनी लालिमा से युक्त है।

राजकोट की ओर

धेला सोमनाथ से राजकोट की ओर यात्रा करनी थी। वहीं पर एक रामायत खाकी बाबा के साथ भेंट हो गयी। वे बोले – ''उधर के सारे पहाड़-जंगलों का रास्ता मेरा जाना हुआ है, एक बार देखने योग्य स्थान है। चोटिला (काठी राज्य) से होकर राजकोट जाने पर इधर देखना हो जायेगा।'' प्रस्ताव अच्छा था, क्योंकि बार-बार तो इधर आना होगा नहीं, अत: संन्यासी उसके साथ चोटिला जाने को राजी हुआ।

सचमुच ही वह पहाड़ी अंचल बड़ा ही मनोरम है। बीच-बीच में खूब बड़े-बड़े गाँव हैं, खेत-खलिहान भी हैं, परन्तु गोधन – गाय, भेंड़ें वहाँ बहुत हैं। खूब दूध-घी होता है, इसीलिये लोग सुखी हैं।

भोजन के बाद चलना शुरू हुआ। फिर शार्टकट ! घास का एक विशाल जंगल मिला। लम्बे-लम्बे घास और उनके बीच से टेढ़ी-मेढ़ी गायों के चलने की पगडण्डी। चलते-चलते संध्या हो आयी – गाँव का कोई भी चिह्न नहीं दिखाई दिया। और कोई उपाय न देख संन्यासी बोला – "लगता है रास्ता भूल गये हैं। अब और नहीं चलेंगे। कोई अच्छा स्थान देखकर रात्रिवास की व्यवस्था करना ही ठीक होगा।"

दूर एक वटवृक्ष दिखाई दिया। संन्यासी ने उसी ओर जाने का निश्चय किया। खाकी बाबा ने कहा – "वहीं पर गाँव है।" परन्तु अन्धकार हो चला था और वहाँ पहुँचने पर देखा गया कि वटवृक्ष के नीचे सीमेंट से बना हुआ एक खूब बड़ा चबूतरा है और वहाँ गाय-भैंसे बैठा करती थीं, इसलिये इधर-उधर बहुत-सा सूखा गोबर भी बिखरा हुआ था। जमीन पर मिट्टी तक दिखाई नहीं दे रही थी। घास की कटाई होने पर लोग अपने गाय-भैंस लेकर वहीं पर आकर रहते हैं। पास ही एक छोटा-सा सीढ़ीवाला कुआँ (बावड़ी) था। जल खूब स्वच्छ था। उसी में हाथ-मुँह धोकर, पानी पीकर उसी चबूतरे पर आश्रय लिया गया। घोर जंगल के बीच हिंस्र पशुओं का भय था। खाकी बाबा बोले – धूनी जलानी होगी। परन्तु सीमेंट के ऊपर न जलाना ही उचित लगा। बाबा ने वहीं से सूखे गोबर आदि को एकत्र करके उस चबूतरे के नीचे – एक किनारे धूनी जलायी और वही बैठ गये। संन्यासी चबूतरे के ऊपर ही बैठा रहा। उसे आशंका थी कि जहाँ गाय-भैंसे बैठती हैं, वहाँ किलनी (अठइल) आदि का रहना सम्भव है। उनके पकड़ लेने पर बड़ी कठिनाई होती है, विशेषकर यदि कान में घुस जायँ।

मजे से बैठा बातें कर रहा था, तभी देखा – हे भगवान ! चारों ओर से उसी की ओर चींटियों के हार चले आ रहे हैं। पास जाकर देखा, तो वे चींटियाँ नहीं, छोटी-छोटी किलनियाँ थीं। सर्वनाश ! अब क्या किया जाय? पास में ही एक छोटा खजूर का पेड़ था। उसी के पत्ते से गोबर की आग की गरम-गरम राख से आसन को चारों ओर से घेर दिया। फिर उनकी पंक्ति आयी, किन्तु गरम राख को पार करने में असफल होकर इधर-उधर बिखर गयीं – मानो उसके भीतर घुसने का मार्ग ढूँढ़ रही हों। रात भर नींद नहीं आयी। तीन-चार दफा गरम-गरम राख डालनी पड़ी। तो भी खाकी बाबा उस सूखे हुए गोबर पर ही बैठे रहे। किलनियाँ उनके ऊपर आक्रमण नहीं कर रही थीं। संन्यासी के पीछे ही लगी रहीं – बात क्या है? खाकी ने कहा – "मेरे खून में खारापन (नमक का अंश) अधिक होने के कारण जूँएँ, किलनियाँ आदि अधिक नहीं पकड़तीं; परन्तु आपके खून में चीनी का भाग अधिक है, इसलिये मिठास होने के कारण जूँएँ आदि खूब पकड़ती हैं। ये लोग गन्ध से जान जाती हैं।"

सुबह होते ही किलनियाँ अदृश्य हो गयीं। जमीन पर मिट्टी से मिला हुआ जो गोबर का चूरा पड़ा हुआ था, संन्यासी ने उसे थोड़ा-थोड़ा उठाकर देखा – अधिकांश स्थानों पर किलनियाँ बिलबिला रही थीं। सर्वनाश ! तो फिर यहाँ गाय-भैंसें किस प्रकार बैठती होंगी?

स्नान आदि करने के बाद फिर चल पड़े और ९-१० बजे एक गाँव में पहुँचकर चैन की साँस ली। एक गोसाईं के अतिथि हुए। उसने खूब यत्नपूर्वक खाने के लिये रोटला और चुरमे के साथ मिर्च का अचार दिया।

वहाँ से चलकर एक अन्य गाँव में आये। रास्ते में एक खूब बड़ा जलाशय (बाँध) देखकर संन्यासी को उसी में स्नान करके थोड़ी सो लेने की इच्छा हुई। गाँव दूर से ही दिखाई दे रहा था। खाकी ने कहा कि वह गाँव में जाकर जगह ठीक करके रखेगा और चला गया। जगह पथरीली थी। बाँध के किनारे केवल तीन खजूर के पेड़ थे। अन्य कोई पेड़-पौधे नहीं थे। संन्यासी ने स्नान करने के बाद पतला कम्बल बिछाया और उन खजूरों की छाया में ही सो गया। तन्द्रालु होकर पड़ा था कि शरीर में थोड़ी खुजली होने लगी। संन्यासी ने सोचा कि पानी के दोष से हो रहा होगा। दो आदमी गाँव की ओर जा रहे थे। वे लोग संन्यासी की ओर देखकर थोड़ा हँसे और आपस में कुछ बोलते हुए चले गये। आखिरकार पीठ में जलन होने पर उसने उठकर कम्बल को उलटकर देखा – हे भगवान ! नीचे से दीमकें बाहर निकल रही हैं और काट रही हैं ! लगता है इसीलिये वे लोग हँस रहे थे। १०-१५ मिनट में ही यह घटना हो गयी; यदि रात होती, तो न जाने क्या हालत होती ! बिल्कुल वाल्मीकि ही बनाकर वे छोड़तीं। क्या वाल्मीकि को दीमकों ने काटा नहीं था? लगता है उनके रक्त में खारापन अधिक था !

खैर, गाँव के चौरे में पहुँचने पर वहाँ खाकी बाबा मिल गये। वे दोनों सज्जन भी हाजिर थे। संन्यासी – "तुम्हीं लोग हँस रहे थे न? बताया क्यों नहीं कि वहाँ दीमकें हैं?" उत्तर – "इधर इस गाँव में भी खूब दीमकें हैं। जरा-सी असावधानी होते ही कपड़े आदि सब खा डालती हैं, इसीलिये ध्यान रखना पड़ता है। दूसरा उपाय भी क्या है? पानी है, खेती अच्छी होती है, इसीलिये पड़े हैं।" रात को दूध पिलाया।

❖ (क्रमशः) ❖

अभिनेत्री बिनोदिनी दासी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस श्रृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

प्रख्यात नाट्यकार गिरीश चन्द्र घोष ने एक बार बिनोदिनी दासी के विषय में कहा था – "मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि मैं उसकी बहुमुखी प्रतिभा का ऋणी हूँ। मेरे चैतन्य-लीला, बुद्धदेव, बिल्वमंगल, नल-दमयन्ती आदि नाटकों को जनता द्वारा जो असाधारण प्रशंसा मिली, वह कुछ हद तक श्रीमती बिनोदिनी द्वारा उपरोक्त नाटकों में मुख्य भूमिका स्वीकार करने तथा उन्हें अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने के कारण ही हुई।"

यह उच्छ्वसित प्रशंसा एक ऐसी नारी की है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त की हिन्दू सामाजिक संरचना के सर्वाधिक निचली सीढ़ी पर स्थित थी। उन दिनों सम्मानित कुल की किसी भी महिला के लिये रंगमंच पर उतरना अकल्पनीय था। वस्तुत: उन दिनों व्यावसायिक अभिनेत्रियाँ वेश्याओं के समतुल्य मानी जाती थीं। परन्तु बिनोदिनी नामक इस विशिष्ट महिला ने श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया था और उनकी कृपा भी पाई थी। पतित तथा लांछित होकर भी उसे सीधे कृपामय ईश्वर से ही एक वर मिला था। उसकी जीवन-कथा स्वामी विवेकानन्द की अपने गुरुदेव के विषय में एक विशेष उक्ति को चरितार्थ करती है – "वे (श्रीरामकृष्ण) नारियों के संरक्षक थे, जन-साधारण के संरक्षक थे, ऊँचे तथा नीचे – सभी के संरक्षक थे।"

१८६३ ई. में कलकत्ता के १४५ कार्नवालिस स्ट्रीट में एक निर्धन परिवार में जन्मी बिनोदिनी का एक ऐसे परिवार ने पालन-पोषण किया, जिसे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी कठोर संघर्ष करना पड़ रहा था। परिवार में बिनोदिनी के सिवा उसकी माता, भाई तथा दादी थीं। उसकी माँ यह भी नहीं जानती थी कि उसके पिता कौन हैं। दादी ने उसके पाँच साल के भाई की एक ढाई साल की मातृहीन बच्ची से सगाई करके कुछ सोने के गहने प्राप्त किये, जिसकी सहायता से परिवार ने कुछ काल तक भूखमरी को टाला। परन्तु उस भाई की भी अल्प आयु में ही मृत्यु हो गयी। इसके कुछ काल बाद ही उसकी माँ के विरोध के बावजूद उसकी दादी ने उस छोटी-सी बहू को उसके घर वापस भेज दिया।

अस्तु। नौ वर्ष की अल्प आयु में ही बिनोदिनी ने गंगामनि से संगीत सीखना आरम्भ कर दिया, जो निर्धनों की बस्ती में निवास करने आये थे और जिन्होंने स्टार थियेटर में काफी नाम कमाया। बिनोदिनी जब केवल ग्यारह या बारह वर्ष की थी, तभी वह ग्रेट नेशनल थियेटर में मंचित होनेवाली महाभारत की एक घटना पर आधारित 'शत्रु-संहार' नाटक में द्रौपदी की दासी की भूमिका में पहली बार रंगमंच पर उतरी और अभिनय में अपनी उल्लेखनीय कुशलता का परिचय दिया।

इसके पहले ही उसे एक प्राथमिक विद्यालय में थोड़ी शिक्षा मिली थी, जिसके फलस्वरूप उसने बँगला भाषा के साथ ही बोलचाल की अंग्रेजी का भी कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। शीघ्र ही उसकी प्रतिभा, उत्साह, निष्ठा तथा योग्यता ने गिरीश घोष को आकृष्ट कर लिया। उन्होंने स्वयं ही उसे नाट्य-कला में प्रशिक्षित करने का उत्तरदायित्व ले लिया था।

वैसे, बाद में उन्होंने उदारतापूर्वक कहा था – "बिनोदिनी ने बड़े सम्मानपूर्वक मेरे संरक्षण में अपने प्रशिक्षण का उल्लेख

पृष्ठ ४६१ का शेषांश

होता है और कभी प्रसन्न। गोस्वामीजी ने निमंत्रण दिया – मन शान्त हो, तो राम-राम जपो और दुखी हो तो राम-राम रटो। रटना शब्द दु:ख के साथ जुड़ा है – महाराज दशरथ व्याकुलतापूर्वक 'राम-राम' रट रहे हैं –

राम राम रट बिकल भुआलू।। २/३७/१

शान्त मन:स्थिति में जप किया जाता है, दु:ख में रटा जाता है और जब मन बहुत आनन्द में हो, तो राम-नाम के साथ रम जाइये। रमना अर्थात् खेलना। राम-नाम से ही खेलिये। चाहे कोई भी स्थिति हो, राम-नाम मत भूलिये। गोस्वामीजी ने राम-नाम के द्वारा ही कल्याण प्राप्त किया था। आप भगवान के किसी अन्य नाम के द्वारा, किसी अन्य इष्ट-नाम के द्वारा, किसी अन्य मंत्र के द्वारा भी कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। इस मारीच के सन्दर्भ से ही नाम-रामायण हमारे जीवन में सक्रिय हो, सन्त-महापुरुषों के संग से हमारे जीवन में धन्यता आये और इसके साथ ही पुन: मैं श्रद्धेय स्वामीजी महाराज के प्रति समादर प्रगट करता हुआ कथा को विराम देता हूँ। ❖ **(समाप्त)** ❖

किया है। पर मुझे स्पष्ट रूप से स्वीकार करना होगा कि रंगमंच पर बिनोदिनी की सफलता के पीछे मेरे प्रशिक्षण की अपेक्षा उसकी अपनी प्रतिभा का ही कहीं अधिक योगदान है।''[१]

१८८६ ई. में अल्प आयु में ही अभिनय से अवकाश लेने के पूर्व वह ग्रेट नेशनल थियेटर, बेंगाल थियेटर और गिरीश के नाम से विशेष रूप से जुड़े स्टार थियेटर में कार्य करती रही। इन बारह वर्षों के दौरान उसने पचास नाटकों में साठ भूमिकाएँ अदा की। समकालीन समाचार-पत्र उसे 'भारतीय रंगमंच का पुष्प', 'बंगला रंगमंच की प्रमुख अभिनेत्री' तथा 'स्टार कम्पनी की चाँद' आदि कहकर उसकी प्रशंसा किया करते थे। प्रारम्भ में तो उसका अभिनय तोता-रटन्त तक ही सीमित था, परन्तु जब उसने बेंगाल थियेटर के शरत् चन्द्र घोष तथा गिरीश बाबू से प्रशिक्षण लेना शुरू किया, तब उसकी अपनी योग्यताएँ तथा सीखने की क्षमता अभिव्यक्त होने लगीं। ऐसा लगता कि वह जिस भी पात्र की भूमिका अदा करने जा रही है, उसका मन तत्काल उसी के रंग में रँग जाता था; और उसके अन्दर मानो उनमें से प्रत्येक पात्र के भावों तथा दृष्टिकोणों को सजीव रूप से प्रस्तुत करने की प्रतिभा विद्यमान थी। इस प्रशिक्षण के विषय में उसने अपने संस्मरणों में लिखा है – ''गिरीश चन्द्र बड़े यत्न तथा स्नेहपूर्वक मुझे प्रशिक्षण दिया करते थे। उनकी शिक्षा देने की पद्धति पूर्णत: मौलिक थी। पहले वे किसी विशेष भूमिका का महत्त्व बताते और उसको याद कर लेने को कहते; इसके बाद फुरसत मिलने पर वे प्रशिक्षण देते। ... बाबू अमृतलाल मित्र तथा अमृतलाल बोस भी हमारे घर आते और मुझे शेक्सपियर, मिल्टन, बायरन, पोप और विभिन्न अंग्रेजी परम्पराओं की प्रसिद्ध अभिनेत्रियों के विषय में बताते। गिरीश बाबू कभी-कभी विभिन्न अंग्रेजी नाटकों तथा कविताओं के कुछ अंशों की व्याख्या करते और मुझे अंग-संचालन तथा विभिन्न मुद्राओं के विषय में शिक्षा देते। इस यत्नपूर्ण प्रशिक्षण के फलस्वरूप मैं क्रमश: मंचीय संस्कृति को अपनाती गयी।''[२]

इस प्रकार अभावों के बीच भी बिनोदिनी बड़ी आशा के साथ दृढ़तापूर्वक बंगीय रंगमंच-जगत् में प्रसिद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ती गयी। परवर्ती काल में उसके गुरु गिरीश ने उसे एक पत्र में लिखा था, ''तुम्हारे जीवन में अनेक कार्य हुए हैं। तुमने रंगमंच के माध्यम से हजारों लोगों के हृदय को आनन्द प्रदान किया है। अभिनय के दौरान जिस प्रकार तुमने अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा नाटकों के अनेक चरित्रों को प्रस्फुटित किया है, वह सामान्य कार्य नहीं है। मेरे 'चैतन्य-लीला' नाटक में श्रीचैतन्य की भूमिका में आकर तुमने बहुत-से लोगों के हृदय में भक्ति का उच्छ्वास उत्पन्न किया है और अनेक वैष्णवों का आशीर्वाद भी प्राप्त किया है। कोई सामान्य भाग्यवाला ऐसे कार्य का अधिकारी नहीं होता।''[३]

एडविन अर्नाल्ड, जेवियर कॉलेज के फादर लाफो, कर्नल आल्काट, शिशिर कुमार घोष, पण्डित मथुरानाथ तर्करत्न, बंकिम चन्द्र चटर्जी आदि उस काल के प्रमुख लोगों ने उसके अभिनय की प्रशंसा की थी। उसका अभिनय देखने के बाद विजय कृष्ण गोस्वामी भावविभोर होकर नाच उठे थे।

तथापि सफलता के ये सारे कीर्तिमान उस परम आशीर्वाद की तुलना में नगण्य थे, जो किसी अन्य अभिनेत्री को नहीं मिले थे। उसने स्वयं ही चैतन्यदेव की भूमिका में अपने अभिनय को अपनी सर्वोच्च उपलब्धि माना, क्योंकि इसी के फलस्वरूप उसे श्रीरामकृष्ण का हार्दिक आशीर्वाद मिला, जिसने उसके जीवन में आध्यात्मिकता का एक नया राज्य उद्घाटित कर दिया। उसने इसे अपने जीवन की महानतम घटना बताया और यह उचित भी था। बाद के दिनों में वह कहा करती थी, ''इसी कारण मैं अपने शरीर को भाग्यशाली मानती हूँ। भले ही सारी दुनिया मुझे तुच्छ समझे, मैं इसकी परवाह नहीं करती; क्योंकि मैं परम श्रद्धेय श्रीरामकृष्ण का आशीर्वाद पा चुकी हूँ।''[४]

अभिनेता तथा नाट्यकार गिरीशचन्द्र ने वृन्दावन दास के 'चैतन्य-भागवत' के आधार पर 'चैतन्य-लीला' नाटक लिखी थी।[५] इस नाटक का मंचन बंगाली रंगमंच के इतिहास में एक विशेष घटना थी, विशेषकर इसलिये कि उस काल के शिक्षित युवक हिन्दू मूल्यों के प्रति अश्रद्धा के शिकार हो चुके थे। बंगाल के एक प्रसिद्ध लेखक हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त लिखते हैं, ''जब बंगाल के शिक्षित समाज में आधुनिक युवा पीढ़ी, इंग्लैंड से लौटे पाश्चात्य भावों में अनुप्राणित बाबुओं तथा ब्राह्मसमाजियों का प्राबल्य हो रहा था, तब – बंगाल के राष्ट्रीय इतिहास के उस संकटकालीन दौर में 'चैतन्य-लीला' ने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के पुनर्जागरण में एक शक्ति का कार्य किया। 'चैतन्य-लीला' नाटक में प्रस्तुत की गई धार्मिक भावनाओं ने सम्पूर्ण हिन्दू समाज की धर्मनिष्ठा को एक नवजीवन प्रदान किया। ... 'चैतन्य-लीला' ने वस्तुत: पूरे देश में एक नवीन चेतना फैला दी और वह चर्चा का एक प्रमुख विषय बन गया। उसी समय बंकिम चन्द्र अपने 'अनुशीलन' के माध्यम से शिक्षित बंगाली समाज का ध्यान धर्म तथा संस्कृति की ओर आकर्षित कर रहे थे। पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि तथा स्वामी कृष्णानन्द हिन्दू धर्म पर प्रभावशाली व्याख्यान दे रहे थे, आदि ब्राह्मसमाज भी उपनिषदों पर कक्षाएँ चला रहा था, ठीक उसी समय गिरीश ने रंगमंच के पूरे परिवेश को ही गहन धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत कर डाला, जिसके फलस्वरूप लोगों में एक अभूतपूर्व धार्मिक चेतना का उदय हुआ। इस प्रकार हिन्दू-जागरण तथा हिन्दू-पुनर्जीवन में 'चैतन्य-लीला' ने महान् भूमिका निभायी।''[६]

इसके अतिरिक्त, गिरीश की जीवन-कथा में भी इस नाटक का स्पष्ट रूप से एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्वयं ही कहा था, ''यह 'चैतन्य-लीला' ही मेरा सब कुछ है। इसी ने मुझे अपने गुरुदेव की कृपा प्राप्त करायी।''[७]

२ अगस्त, १८८४ ई. के दिन बिनोदिनी पहली बार इस नाटक में श्री चैतन्य की भूमिका में अवतीर्ण हुई। जब वह इस भूमिका की तैयारी कर रही थी, तो कलकत्ते के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक शिशिर कुमार घोष ने उसे सलाह दी, "तुम्हें निरन्तर श्रीचैतन्य के पवित्र चरणों का स्मरण करना होगा। वे अधमों के तारक और पतित-पावन हैं। पतितों पर उनकी असीम दया है।" बिनोदिनी ने बाद में अपनी स्मृतियों में लिखा था, "उनके निर्देशानुसार मैं निरन्तर डरते-डरते श्रीचैतन्य के चरण-कमलों का चिन्तन किया करती थी। मैं बड़ी आशंकित थी कि कैसे कठिनाइयों के इस समुद्र को पार कर सकूँगी! मैं मन-ही-मन प्रार्थना किया करती, 'हे पतितपावन गौरांग, मुझ अधम पतिता पर दया कीजिये।' जिस दिन पहली बार 'चैतन्य-लीला' में अभिनय करना था, उसके पहले की करीब पूरी रात मैं सो नहीं सकी। मेरे प्राणों में एक आकुल उद्विग्नता थी। सबेरे उठकर गंगास्नान करने गयी, १०८ बार श्रीदुर्गा का नाम लिखा और उनके चरणों में प्रार्थना की – महाप्रभु मुझे इस संकट से पार करें। मुझे उनकी कृपा प्राप्त हो।"[८]

यह कृपा उसे निश्चित रूप से प्राप्त हुई थी, क्योंकि कुछ सप्ताह बाद ही २१ सितम्बर, १८८४ को श्रीरामकृष्ण इस नाटक को देखने स्टार थियेटर में पधारे। भारतीय रंगमंच का एक प्रामाणिक इतिहास इसे बँगला रंगमंच का एक उल्लेखनीय दिन मानता है, क्योंकि इसी दिन इसे श्रीरामकृष्ण जैसी एक महान् विभूति का समर्थन तथा आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

बिनोदिनी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है – अभिनय के दौरान "मैं मन-ही-मन समझ गयी कि भगवान ने मुझ पर कृपा की है। क्योंकि जब मैं बाललीला के समय ही (निमाई की भूमिका में), 'राधा के सिवा मेरा कोई नहीं है; 'राधा' बोलकर ही मैं अपनी बाँसुरी बजाता हूँ" – इस गीत को गाते हुए मंच पर जितना ही आगे बढ़ने लगी, उतना ही एक शक्तिशाली आलोक मेरे हृदय को परिपूर्ण करने लगा। मालिनी से माला लेकर पहनने के बाद मैंने उससे पूछा, 'तुम क्या देखती हो, मालिनी?' तभी मेरे नेत्र बाह्य जगत् को छोड़ अन्तर में प्रविष्ट हो गये। मैं बाहर का कुछ भी नहीं देख पा रही थी। मैं अपने हृदय में मानो चैतन्यदेव के अभूतपूर्व चरण देखने लगती; मेरे मन में आता, 'ये ही तो गौरांग हैं, ये ही तो चैतन्य हैं', वे ही तो बोल रहे हैं, मैं पूरी एकाग्रता से सुन रही हूँ और अपने मुख से उन्हीं की वाणी को प्रतिध्वनित कर रही हूँ। मेरा शरीर रोमांचित हो उठा, सारा शरीर पुलक से परिपूर्ण हो गया और परिवेश मानो कुहासे से आच्छन्न हो गया।"[९]

चैतन्यदेव की भूमिका में बिनोदिनी की भावनाओं की गहराई को व्यक्त करनेवाली एक रोचक अनुभूति को भी यहाँ उसकी स्मृतिकथा से उद्धृत किया जा सकता है। उसने लिखा है, "संन्यास ग्रहण करने के बाद माता शचीदेवी से विदा लेते समय जब मैं कहती – 'माँ, तुम निमाई कहकर नहीं, कृष्ण कहकर रोओ। कृष्ण कहकर रोने से तुम्हें सब कुछ मिलेगा। निमाई कहकर रोने से निमाई को तो खोओगी ही, कृष्ण भी नहीं मिलेगा।" तब स्त्री-दर्शकों में से कोई-कोई इतने उच्च स्वर में रो उठतीं कि मेरा हृदय धड़कने लगता। फिर, माता शचीदेवी की हृदय-विदारक शोकध्वनि, अपने मन की उत्तेजना तथा दर्शकों की व्यग्रता – मुझे इतना अधीर कर डालती कि मैं अपने ही आँखों में छलछलाये आँसुओं से आकुल हो उठती। फिर, संन्यास के बाद संकीर्तन करते समय मैं गाती – 'हे हरि, मेरा हृदय चुराकर तुम कहाँ छिप गये हो? इस संसार में मैं अकेला हूँ, हे प्राणसखा, मुझे दर्शन दो और अपने चरणों में रख लो।' इस गीत को गाते समय मेरे मन में जो भाव उठते, उन्हें मैं लिखकर नहीं बता सकती। उस समय मुझे सचमुच ही बोध होता कि मैं जगत् में बिल्कुल अकेली हूँ, कोई भी तो मेरा नहीं है। मेरे प्राण मानो हरि के पादपद्मों में अपना आश्रय-स्थान खोजते। संकीर्तन करते समय मैं उन्मत्त भाव से नाचती। किसी-किसी दिन ऐसा भी होता कि अभिनय का गुरुभार वहन न कर पाने के कारण मैं मूर्छित होकर गिर पड़ती।"[१०]

गिरीश ने स्वयं लिखा है, "अभिनय करते समय बिनोदिनी इतनी तन्मय हो जाती, अपना अस्तित्व तक भूलकर ऐसी अवर्णनीय पवित्र भावों से उद्दीप्त हो उठती कि उस समय उसे वह अभिनय नहीं, अपितु मानो एक सत्य घटना प्रतीत होने लगती।"[११] इस कारण, परवर्ती काल में यद्यपि अन्य लोगों ने भी श्रीचैतन्य की भूमिका में अभिनय किया, परन्तु कोई भी बिनोदिनी की उपलब्धि की बराबरी नहीं कर सका।

एक दिन श्रीरामकृष्ण 'चैतन्य-लीला' देखने कलकत्ता जाने वाले थे। कुछ भक्तों ने उन्हें बताया था कि उसमें वेश्याएँ चैतन्य, नित्यानन्द तथा अन्य पात्रों की भूमिका अदा कर रही हैं। पर श्रीरामकृष्ण बोले, "मैं उन्हें साक्षात् आनन्दमयी जगदम्बा के रूप में देखूँगा। यदि वह चैतन्य सजकर निकलती हैं, तो भी क्या? नकली फल देखो, तो सच्चे फल की बात याद आ जाती है।"[१२] अत: उसी दिन शाम को श्रीरामकृष्ण तथा कुछ अन्य भक्त गाड़ी में सवार होकर साढ़े आठ बजे १२ नं. बीडन स्ट्रीट में स्थित स्टार थियेटर के सामने जा पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के संगियों में महेन्द्रनाथ गुप्त (वचनामृत के लेखक), बाबूराम (बाद में स्वामी प्रेमानन्द) और महेन्द्र मुखर्जी थे। थियेटर के प्रबन्धक गिरीश ने श्रीरामकृष्ण का आदरपूर्वक स्वागत किया और ले जाकर एक बाक्स में बैठाया, जहाँ उन्हें पंखा झलने के लिये एक आदमी भी नियुक्त कर दिया।

गिरीश इसके पहले भी श्रीरामकृष्ण को एक-दो बार देख चुके थे, परन्तु अभी तक वे उनके भक्त नहीं बने हैं। बत्तियों से आलोकित दर्शकों से भरा हुआ हॉल देखकर श्रीरामकृष्ण को

बड़ा आनन्द हुआ, क्योंकि ऐसे दृश्य उनके मन में ईश्वरीय उद्दीपना उत्पन्न कर देते थे। परदा ज्यों ही उठा, समस्त दर्शकों का ध्यान मंच पर केन्द्रित हो गया।

श्रीचैतन्य की बाल्य-जीवन के विभिन्न दृश्यों ने श्रीरामकृष्ण के मन में अनेक आध्यात्मिक भावों की सृष्टि की। वे कई बार भावाविष्ट हुए और कभी-कभी समाधिमग्न भी हो गये। फिर बीच-बीच में भावातिरेक के कारण उनके गालों से होकर आँसू भी बहने लगते। चैतन्य के अभिनय ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। एक दृश्य में – चैतन्यदेव के एक संगी श्रीवास निमाई (चैतन्य) से मिलने आते हैं। निमाई श्रीवास को देखकर उनके चरणों से लिपटकर रोते हुए कह रहे हैं – "कहाँ, प्रभो ! कहाँ मुझे कृष्णभक्ति हुई? अधम जन्म तो व्यर्थ ही कटा जा रहा हैं ! प्रभो, मुझे बताइये, कृष्ण कहाँ है? मुझे कृष्ण कहाँ मिलेगा? मुझे अपनी चरणधूलि और आशीर्वाद दीजिये कि मैं उस वनमाला-धारी नीलमणि को पा सकूँ।"

इस दृश्य को देखकर श्रीरामकृष्ण कुछ कहना चाहते थे, पर बोल नहीं सके। भावावेश से उनका गला भर आया है। कपोलों पर आँसुओं की धारा बहती जा रही है। अनिमेष नेत्रों से वे देख रहे हैं – निमाई श्रीवास के पैरों पर पड़े हुए कह रहे हैं – "कहाँ, प्रभो ! कृष्ण-भक्ति तो मुझे नहीं हुई !"[१३]

अभिनय समाप्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण को थियेटर के दफ्तर में ले जाया गया। थियेटर से निकलने के थोड़ी देर बाद एक भक्त के पूछने पर उन्होंने बताया, "असल और नकल एक देखा।"[१४] इसके बाद शीघ्र ही सभी अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ उन्हें प्रणाम करने आयीं। बिनोदिनी ने स्वयं अपना अनुभव लिपिबद्ध किया है, "श्रीरामकृष्ण ने नृत्य की मुद्रा में कहा, 'हरि गुरु, गुरु हरि।' इसके बाद उन्होंने अपने दोनों हाथ मेरे सिर पर रखते हुए मेरे अपावन शरीर को पावन किया और आशीर्वाद देते हुए बोले, 'तुम्हें चैतन्य की प्राप्ति हो।' "

बिनोदिनी ने इसकी सपने में भी कल्पना न की थी। वह भावविभोर हो गयी और कुछ बोल न सकी। इस घटना का स्मरण करते हुए वह अपनी आत्मकथा में लिखती है, "उनका सुन्दर शान्त मुखमण्डल, जो मेरे समस्त पापों को क्षमा कर देने को आतुर थे और मेरे समान एक निकृष्ट व्यक्ति के प्रति उनकी करुणापूर्ण दृष्टि – अब भी मेरी स्मृति में सजीव बनी हुई हैं। पापियों के उद्धारक, पतितों के मुक्तिदाता ने मेरे सामने खड़े होकर मुझे अभय प्रदान किया। परन्तु खेद ! मैं अभागन इसका पूरा-पूरा महत्त्व समझ नहीं सकी।"[१५]

ज्ञात तथ्यों के आधार पर प्राय: निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नाटक के बाद श्रीरामकृष्ण जब भावावस्था में थे, उस समय बिनोदिनी ने उनकी चरण-पूजा की थी।[१६] दूसरे सूत्र के अनुसार वहाँ उपस्थित बारह अभिनेत्रियों ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया और वे भावावस्था में माँ-काली के भजन गाने लगे थे। श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करते समय बिनोदिनी भाव-विभोर हो गयी और अपनी बाह्य चेतना खो बैठी।[१७]

बाद में श्रीरामकृष्ण ने दक्षयज्ञ, प्रह्लाद-चरित, निमाई-संन्यास, वृषकेतु तथा विवाह-विभ्राट् आदि नाटकों में भी विभिन्न भूमिकाओं में बिनोदिनी का अभिनय देखा था।[१८] इनमें से किसी-किसी अवसर पर उसने पुन: श्रीरामकृष्ण से भेंट की। अपनी प्रथम भेंट के समय से ही वह उन्हें साक्षात् ईश्वर के रूप में देखती थी।[१९] इस बीच उसके जीवन में श्रीरामकृष्ण का प्रभाव अधिकाधिक व्यक्त होता जा रहा था। बाद में, जब श्रीरामकृष्ण अपनी अन्तिम बीमारी के समय श्यामपुकुर (कलकत्ता) में किराये के मकान में निवास कर रहे थे और चिकित्सकों के निर्देशानुसार आगन्तुकों का प्रवेश काफी सीमित कर दिया गया था, तभी एक दिन बिनोदिनी ने एक युरोपीय पुरुष के छद्मवेश में उनके कमरे में जाकर उनका दर्शन किया था। श्रीरामकृष्ण ने उसे देखते ही पहचान लिया था और उसके सफल छद्मवेश पर हँसते हुए और स्नेहपूर्वक उसका स्वागत करते हुए कहा था, "आओ बेटी, बैठो।" सम्भवत: यही श्रीरामकृष्ण से उसकी अन्तिम भेंट थी। इस अवसर पर भी हम देखते हैं कि ठाकुर उसकी भक्ति तथा विश्वास पर प्रसन्न हैं। उन्होंने उसके साहस, योजना तथा श्रद्धाभाव की प्रशंसा की। उन्होंने उसे ईश्वर में विश्वास तथा निर्भरता विषयक कुछ उपदेश दिये और शीघ्र विदा कर दिया। बिनोदिनी की आँखों में आनन्द तथा पश्चाताप के आँसू निकल आये। उसने श्रद्धाभाव से श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों में सिर नवाया और चली गयी।[२०]

जैसा कि हमने देखा, बिनोदिनी अत्यन्त सामान्य अवस्था से प्रसिद्धि की बुलंदियों तक पहुँची थी। तथापि केवल तेईस वर्ष की आयु में जब वह अपनी सफलता के शिखर पर थी, तभी १८८६ ई. में उसने सहसा थियेटर का काम छोड़ दिया। चूँकि उसकी अभिनय-कुशलता एक किम्बदन्ती बन चुकी थी, अत: जैसा कि स्वाभाविक था उसके इस कदम ने एक सनसनी पैदा कर दी। परन्तु हमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि श्रीरामकृष्ण से मिलने के बाद से उसके जीवन में काफी परिवर्तन आ गया था। उसकी स्मृतिकथा से भी ज्ञात होता है कि उसके पश्चाताप, आत्मविश्लेषण तथा सर्वोपरि उसके धार्मिक प्रवृत्तियों ने उसमें एक रूपान्तरण ला दिया था। २५ दिसम्बर १८८६ को वह बेल्लिक बाजार नाटक में रंगिनी की भूमिका में अन्तिम बार मंच पर उतरी। १६ अगस्त १८८६ को श्रीरामकृष्ण इस नश्वर जगत् से विदा ले चुके थे। कुछ लोग उपरोक्त दोनों घटनाओं के बीच एक अन्तरंग सम्बन्ध की ओर इंगित करते हैं।[२१]

रंगमंच छोड़ने के बाद भी बिनोदिनी पचपन वर्ष (फरवरी, १९४२ तक) जीवित रही, जिसके बारे में हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह अपना काफी समय साधनाओं में बिताया

करती थी। हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है, "अब बिनोदिनी पूरी तौर से गोपाल (श्रीकृष्ण) के चरणों में शरणागत हो गयी है और भक्तिपूर्वक उनकी सेवा कर रही है।"[२२] हम यह भी जानते हैं कि उसने रामकृष्ण मिशन के मुख्यालय बेलूड़ मठ के साथ सम्पर्क बनाये रखा था और वहाँ जाकर तारा सुन्दरी आदि अन्य अभिनेत्रियों का भी श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों से परिचय करा दिया था। इसके अतिरिक्त इन वर्षों के दौरान उसकी नैसर्गिक साहित्यिक क्षमताओं ने भी उसे काफी व्यस्त रखा था। उसके ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं – वासना (उसकी कविताओं का संकलन), कनक व नन्दिनी (कविता में उपन्यास) और उसकी आत्मकथा। निश्चय ही ये प्रशंसनीय कृतियाँ हैं।

बिनोदिनी के अथक परिश्रम के अभाव में बंगीय रंगमंच उस गौरव की उपलब्धि नहीं कर पाता, जिसके लिये वह गर्व करता है; अत: निश्चित रूप से वह बँगला रंगमंच के इतिहास में गिरीश, अर्धेन्दु शेखर, नगेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा अमृतलाल बोस के साथ प्रथम पंक्ति की अधिकारिणी है, तथापि श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क से उसमें जो महान् रूपान्तरण आया था, वह उसके जीवन का इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। श्रीरामकृष्ण के प्रभाव ने क्लान्त तथा निराश बिनोदिनी को सांसारिक जीवन से बचाया, अपने दोषों पर विजय पाने में सहायता की और उसे एक सुसंस्कृत आध्यात्मिक जीवन में उन्नीत कर दिया था। दीन-दुखियों तथा पतितों के लिये चिर-कृपालु श्रीरामकृष्ण के हृदय में दिव्य करुणा थी। वस्तुत: उसका अपना जीवन-नाट्य इस बात का एक स्पष्ट निदर्शन है कि उन्होंने किस प्रकार दीन-पतितों को सहायता की और उन लोगों को पवित्रता तथा आनन्द के मार्ग पर अग्रसर कराया। ऐसा ही गिरीशचन्द्र ने उसकी आत्मकथा की भूमिका में लिखा, "सहसा मुझे याद आता है कि इस बालिका का जीवन एक महान् सत्य का दृष्टान्त है। लोग बहुधा कानाफूसी करते हैं कि अमुक पतित है, घृण्य है; परन्तु पतित-पावन प्रभु उसके प्रति उदासीनता नहीं दिखाते, बल्कि उल्टे पापों तथा तिरस्कार से उसका उद्धार करते हैं। बिनोदिनी का जीवन इसका एक जीवन्त उदाहरण है। मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों का जो चरम लक्ष्य है और जिसे आजीवन तपस्या करके भी नहीं पाया जा सकता, बिनोदिनी सदा-सर्वदा के लिये श्री परमहंसदेव (रामकृष्ण) के चरणों में आश्रय पाने में सफल हुई।"[२३]

सन्दर्भ-सूची –

१. बिनोदिनी दासी, आमार कथा ओ अन्यान्य रचना (बँगला), सम्पादक सौमित्र चटर्जी तथा निर्माल्य आचार्य, भूमिका, पृ. १६

२. Hemendranath Dasgupta: *Tbe Indian Stage* (Girish Centenary Edition), Vol. III, pp. 13-14

३. गिरीश रचनावली (बँगला), साहित्य संसद, खण्ड ३, पृ. ८२८

४. इन्द्र मित्र, साजघर, पृ. २२६

५. आशुतोष भट्टाचार्य, बाँग्ला नाट्य-साहित्येर इतिहास, पृ. ७०१

६. *Tbe Indian Stage*, pp. 57-60

७. तत्त्वमंजरी, खण्ड २०, अंक ५, पृ. १५७

८. आमार कथा (बँगला), पृ. ४४-५

९. वही, पृ. ४५

१०. वही, पृ. ४५-६

११. गिरीश रचनावली (बँगला), साहित्य संसद, खण्ड ३, पृ. ८२८ (इस सन्दर्भ में थियासाफिकल सोसायटी के कर्नल आल्काट की टिप्पणियाँ बड़ी प्रासंगिक हैं, "चैतन्य की भूमिका निभानेवाली निर्धन बालिका पतित जाति की हो सकती है, परन्तु मंच पर अभिनय करते समय वह दृश्य में स्वयं को इतनी तन्मयता से झोंक देती है कि व्यक्ति को अपने समक्ष केवल एक वैष्णव सन्त ही दिखाई देते हैं। ... प्रमुख अभिनेत्री जिस सन्त की भूमिका में उतरती है, उनकी भावनाओं के साथ अपना इतना तादात्म्य कर लेती है और भक्तियोग का धार्मिक भावनाओं का उसके हृदय में इतना प्रगाढ़ रूप से उदय होता है कि जिस संध्या को मैं उपस्थित था, उस दिन वह दृश्यों के बीच अपनी चेतना खो बैठी थी।" – *The Indian Stage*, p. 55).

१२. श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं.१९९९, पृ. ६३३

१३. वही, पृ. ६४१

१४. वही, पृ. ६४

१५. आमार कथा (बँगला), पृ. ४७

१६. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, नागपुर, तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. २६२-६३। यद्यपि इस प्रकरण में बिनोदिनी के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि इसमें उस अभिनेत्री का विस्तृत विवरण दिया हुआ है, जिसने गिरीश के थियेटर में होनेवाले धार्मिक नाटक में प्रमुख भूमिका अदा की थी। श्रीरामकृष्ण की अन्तिम बीमारी के समय एक दिन वह हैट-कोट पहनकर एक यूरोपीय पुरुष के वेश में उनका दर्शन करने आयी थी। श्रीरामकृष्ण की अंग्रेजी जीवनी में भी ऐसी ही घटना का वर्णन प्राप्त होता है, अत: इस विषय में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। (द्र. *Life of Sri Ramakrishna* (Advaita Ashrama, Mayavati, U.P., 1964, p. 566)

१७. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, ५म सं., पृ. ४६७

१८. नलिनीरंजन चटर्जी, श्रीरामकृष्ण ओ बंग रंगमंच,१९७८, पृ. २०४

१९. *Life of Sri Ramakrishna*, 1964, p. 566

२०. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, तृतीय खण्ड, पृ. २६२

२१. आमार कथा, पृ. २५ (भूमिका)। इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने काफी शोध करके यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों घटनाओं के बीच सम्बन्ध अवश्य है। वे विशेष रूप से इस घटनाक्रम की ओर संकेत करते हैं कि 'निमाई-संन्यास' नाटक में अभिनय के बाद बिनोदिनी के दृष्टिकोण में उल्लेखनीय परिवर्तन आया और फिर श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद उसने नाट्य-जीवन से संन्यास ले लिया।

२२. वही

२३. गिरीश चन्द्र घोष, बंगीय रंगालये श्रीमती बिनोदिनी (आमार कथा, पृ. १४२)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१७०. अभिवादन करना गुरुजन का

मृकण्ड मुनि का पुत्र जब पाँच वर्ष का हुआ, तो मुनि के मन में उसका भविष्य जानने की जिज्ञासा हुई। उन्होंने जब अपने गुरु से उसका भविष्य बताने की प्रार्थना की, तो वे बोले, "इस बालक में धर्मज्ञ, नीतिवान तथा ज्ञानी होने के सारे लक्षण दिखाई देते हैं, परन्तु दु:ख की बात यह है कि इसकी आयु मात्र छह महीने ही बची है।" यह सुनकर मुनि चिन्तित हो उठे। काफी विचार के बाद उन्होंने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार कराया तथा शास्त्रों की शिक्षा दिखाने के बाद बोले – पुत्र, तुम्हें जो भी परिव्राजक सन्त-महात्मा दिखाई दें, तुम उन सभी का गुरुवत् अभिवादन करना –

यं किंचिद् वीक्षसे पुत्र भ्रममाणं द्विजोत्तम।
तस्यां वश्यं त्वया कार्यं विनयाभिवादनम्॥

पुत्र ने पिता के इस आदेश को शिरोधार्य मानकर बराबर पालन किया। उसे जो भी सन्त-महात्मा दिखाई देते, वह बिना चूके उन सबका दण्डवत अभिवादन करता। एक बार जब उसने सप्तर्षियों को देखकर उन्हें भी दण्डवत प्रणाम किया, तो उन्होंने आशीर्वाद किया – "चिरंजीवी भव।" बाद में ध्यान लगाने पर उन्हें पता चला कि उनसे भयंकर भूल हो गई है। इस बालक के जीवन के कुछ ही दिन शेष बचे हैं और उन्होंने उसे चिरायु होने का आशीर्वाद दे दिया है।

वे लोग तत्काल ब्रह्माजी के पास गये और उन्हें अपनी गलती से अवगत कराया। ब्रह्माजी ने भी अन्तर्ध्यान लगाया और सब कुछ जान लेने के बाद वे सप्तर्षियों से बोले, "आपको चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। इस बालक ने अभिवादनशीलता के बल पर न केवल आप लोगों को, बल्कि काल को भी जीत लिया है। अत: आपके आशीर्वचन मिथ्या नहीं होंगे। यह बालक आगे चलकर मार्कण्डेय मुनि के नाम से विख्यात होगा। प्रजापति ब्रह्मा की यह भविष्य-वाणी सत्य सिद्ध हुई। अट्ठारण पुराणों में से मार्कण्डेय पुराण के रचयिता ये ही मार्कण्डेय मुनि हैं। प्रतिवर्ष नवरात्रि के दौरान पारायण किया जानेवाला तेरह अध्यायों वाला श्री दुर्गा-सप्तशती ग्रन्थ इसी पुराण का अंश है।

अभिवादन भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे व्यक्ति के हृदय के श्रद्धा, आदर, विनय तथा शरणागति आदि भाव व्यक्त होते हैं। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि अभिवादन के द्वारा व्यक्ति की आयु, विद्या, यश तथा शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

१७०. देशद्रोह की सजा

अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव को अपना आधिपत्य स्वीकार करने का पत्र भेजा, परन्तु स्वाभिमानी राजा ने अलाउद्दीन के प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि सच्चा क्षत्रिय म्लेच्छ राजा के अधीन रहने की बजाय मृत्यु को गले लगाना अधिक पसन्द करता है। इस उत्तर से अलाउद्दीन तिलमिला उठा और उसने अपनी प्रचण्ड सेना को भेजकर देवगिरि पर हमला किया। रामदेव को इसका पहले से ही अनुमान था। उसने युद्ध की पूरी तैयारी कर ली थी। उसकी सेना ने खिलजी की सेना का डटकर मुकाबला किया और अलाउद्दीन को मुँह की खानी पड़ी। उसने अपनी सेना को वापस बुला लिया। अब उसने साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति अपनाते हुए एक सरदार कृष्णराव को प्रलोभन देकर अपने वश में कर लिया। उसने बादशाह को पूरी जानकारी दे दी कहाँ-कहाँ युद्ध सामग्री, रसद आदि रखे हुए हैं और अन्य भेद भी बता दिये। यह बात उसने अपनी मंगेतर वीरवती को भी बता दी और कहा कि अब वह जल्द ही एक सूबेदार की पत्नी बनने का गौरव प्राप्त करेगी।

वीरवती को कृष्णराव के कथन पर विश्वास नहीं हुआ, परन्तु जब खिलजी ने देवगिरि पर दुबारा आक्रमण किया और वीरवती को किले की युद्ध-सामग्री नष्ट होने और किले की रक्षा करनेवालों के बड़ी संख्या में मारे जाने बात ज्ञात हुई, तो वह जान गई कि कृष्णराव ने सचमुच ही सारे भेद बादशाह को बता दिये हैं। वह एक वीर सरदार की वीर बेटी थी और स्त्री-सेना में भी शामिल थी। वह तुरन्त कृष्णराव को खोजते हुए उसके पास जा पहुँची, जो अपने ही सैनिकों पर वार करने में जुटा था। वीरवती ने उसे देखते ही तलवार निकालकर उसका दहिना हाथ काट डाला और बोली –

"क्या तुम नहीं जानते कि मराठा स्त्री ऐसे पति की कामना करती है, जो भीरु, स्वार्थी और लोलुप नहीं, बल्कि मातृभूमि की रक्षा करने में हँसते-हँसते आत्म-बलिदान के लिये उद्यत हो। यदि तुमने युद्ध में वीरगति पाई होती, तो तुमसे विवाह न होने पर भी मैं तुम्हारी विधवा कहलाने में गर्वबोध करती। पर गद्दार सूबेदार की पत्नी कहलाना मेरे लिये घोर लांछन होगा। अच्छा ही हुआ कि गद्दारी की बात तुमने मुझे बता दी थी। इससे तुम्हारी पोल खुल गई। अब तुम देखो कि विद्रोही का क्या हश्र होता है यह कहकर उसने तलवार के एक ही वार से कृष्णराव का सिर उड़ा दिया।

अद्वितीय दान

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रजापति ब्रह्मा की सभा में देवेन्द्र सभी देवताओं के साथ उपस्थित हुये। वे सभी भय एवं चिन्ता से पीड़ित थे। प्रजापति ने देवगणों को देखकर भाँप लिया कि ये भयग्रस्त हैं। उन्होंने उन सबको अभयदान देते हुये पूछा, ''देवगण! तुम सब भयातुर क्यों हो? तुम पर कौन-सी विपत्ति आ पड़ी है? निर्भय होकर मुझसे कहो। मैं तुम्हारी विपत्ति के निराकरण का उपाय सुझाउँगा।''

प्रजापति की बातों से आश्वस्त हो सुरपति इन्द्र ने निवेदन किया, ''भगवन्! कालकेय नामधारी भयंकर दैत्यों ने वृत्रासुर की अध्यक्षता में एक सुदृढ़ एवं विशाल असुरसेना का संगठन किया है। असुरों की इस संगठित सेना ने देवलोक पर आक्रमण कर दिया है। हमारी सेना की शक्ति क्षीण होती जा रही है तथा शत्रु निरन्तर अग्रसर होता आ रहा है। दैत्यों की उस विशाल सेना के कारण हमारे प्राण भी संकट में है। प्रजापते! दैत्यों का सेनानायक वृत्रा अत्यन्त बलवान् और दुर्धर्ष है। उसी की शक्ति के कारण असुर-सेना देवलोक पर चढ़ी चली आ रही है। जब तक वृत्रासुर का विनाश नहीं होता तब तक असुरसेना को परास्त करना असम्भव है। आपसे यही प्रार्थना है कि आप हमें उसके विनाश का उपाय बतलायें।''

प्रजापति कुछ क्षणों तक गम्भीर रहे। फिर उन्होंने देवराज से कहा, ''सुरपति! वृत्रासुर बड़ा भंयकर है। तुम्हारे सामान्य वज्र से उसका विनाश सम्भव नहीं है। उसका विनाश करने के लिये तुम्हें विशेष वज्र का निर्माण कराना होगा। यह विशेष वज्र उस पदार्थ से नहीं बन सकता जिससे अब तक तुम अपना वज्र बनाते रहे हो।''

इन्द्र ने व्यग्र होकर पूछा, ''भगवन्! कृपापूर्वक बताइये कि वह कौन-सी वस्तु है जिससे बने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश हो सकता है? हम किसी भी प्रकार उस वस्तु को पाने का उपाय करेंगे।''

ब्रह्मा ने कहा, ''देवराज! महर्षि दधीच महान् तपस्वी ऋषि हैं। उनकी तपस्या के प्रभाव से उनकी अस्थियों में अतुल शक्ति का संचार हुआ है। यदि वे स्वेच्छापूर्वक देह त्यागकर तुम्हें अपनी अस्थियाँ दे दें और तुम उन अस्थियों से वज्र बनवा लो, तो इस अमोघ वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश अवश्य ही हो जायगा। ''

प्रजापति की बात सुनकर देवराज कुछ निराश अवश्य हुये, किन्तु फिर भी देवताओं के साथ उन्होंने महर्षि की सेवा में जाने का निश्चय किया। इन्द्र के नेतृत्व में देवगण महर्षि दधीच के आश्रम में पहुँचे। ऋषि आश्रम के सामने एक वृक्ष के नीचे शिलाखण्ड पर बैठे आत्म-चिन्तन में लीन थे। देवताओं को इन्द्र सहित अपने यहाँ आया देख वे बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने आदरपूर्वक देवताओं का स्वागत किया। व्यावहारिक शिष्टाचार के पश्चात् ऋषि ने उन सबके आने का प्रयोजन जानना चाहा।

देवराज इन्द्र ने सविनय निवेदन किया, 'महर्षे! असुरपति वृत्रासुर के अत्याचार से देवगण पीड़ित हैं। उसकी विशाल सेना देवलोक को नष्ट करना चाहती है। वृत्रासुर अत्यन्त दुर्धर्ष तथा शक्तिशाली है। उसके विनाश के बिना देवलोक की रक्षा सम्भव नहीं है।''

महर्षि ने कहा, ''देवराज! आप तो वज्रधारी हैं। अपने वज्र से आपने कितने ही असुरों का संहार किया है। फिर आप भयभीत क्यों हो रहे हैं? वृत्रासुर का भी आप अपने कठिन वज्र से नाश क्यों नहीं कर देते?''

इन्द्र ने निवेदन किया, ''महात्मन्! वृत्रासुर की शक्ति प्रचण्ड है। मेरे इस वज्र से उसका विनाश नहीं हो सकता। किन्तु एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु है जिसके द्वारा यदि वज्र का निर्माण किया जाय, तो उससे अवश्य ही उस असुर का नाश हो सकता है।''

ऋषि ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से इन्द्र की ओर देखा और प्रश्न किया, देवराज! वह बहूमूल्य वस्तु कौन-सी है? क्या मैं उस वस्तु की प्राप्ति में आपकी कुछ सहायता कर सकता हूँ?''

इन्द्र विनयपूर्वक बोले, ''भगवन्! वास्तव में आप ही उस अमूल्य वस्तु के स्वामी हैं। आपकी कृपा से ही हमें वह प्राप्त हो सकती है। उसी के द्वारा देवलोक की रक्षा सम्भव है, अन्यथा देवताओं का विनाश अवश्यम्भावी है।''

महर्षि दधीच ने इन्द्र को प्रोत्साहित करते हुये कहा, ''देवराज! आप निस्संकोच होकर कहिये कि वह कौन-सी वस्तु है जिससे वृत्रासुर का नाश करनेवाला वज्र बन सकता है, तथा जो मेरे अधिकार में है। मैं सहर्ष वह वस्तु आपको देने के लिये प्रस्तुत हूँ।''

देवराज इन्द्र ने सकुचाते हुये कहा, ''महाभाग! प्रजापति ब्रह्मा ने हमें बताया है कि अनुपम तपश्चर्या के कारण आपकी अस्थियों में महान् शक्ति का संचार हुआ है। यदि आप हम सब पर दया कर स्वेच्छा से अपनी देह त्याग दें तथा अपनी पवित्र अस्थियाँ हमें प्रदान कर दें, तो उन पवित्र अस्थियों से बने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश अवश्य हो जायेगा और इस प्रकार देवों की प्राण रक्षा हो जायेगी।''

ऋषि ने अत्यन्त शान्त भाव से कहा, "सुरराज ! दूसरों की सेवा के लिये जीवन का उत्सर्ग ही तो मुक्ति का दूसरा नाम है। यदि मेरी अस्थियों द्वारा बने वज्र से एक दुष्ट का नाश होकर इतने देवों का कल्याण हो सकता है, तो मेरे लिये इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है। मेरे प्राण त्यागने के पश्चात् आप सहर्ष मेरे शरीर की अस्थियाँ निकाल लें और उनके द्वारा वज्र निर्माण कर अपने अभीष्ट कार्य सिद्ध कर लें।"

इन्द्र को अपनी अस्थियों का दान कर महर्षि दधीच ने योगबल द्वारा तत्काल अपने प्राणों को त्याग दिया।

ऋषि के प्राण त्यागने के पश्चात् इन्द्र ने उसकी अस्थियाँ समेट लीं। उन अस्थियों से वज्र का निर्माण किया गया। इसी वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश हुआ और देवताओं की रक्षा हो सकी।

महाभारत की यह रूपक एक महान् सत्य का उद्घाटन है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में देवों और असुरों का यह अनिर्णीत संघर्ष सदैव चलता रहता है। हमारे मन की हीन वृत्तियाँ असुर हैं तथा हमारी शुभ एवं सात्त्विक वृत्तियाँ देव हैं। हमारी असद् वृत्तियाँ नाना प्रकार से हमारी सद् वृत्तियों को क्षीण कर उन्हें पराभूत करने का प्रयत्न करती रहती हैं। एक दुर्बलता, एक असद् वृत्ति के प्रति यदि हम तनिक भी असावधान हुये कि अनेक हीन वृत्तियाँ सहसा हमारे मन को मथ डालती हैं। एक हीन वृत्ति को मन में प्रश्रय मिलते ही अनेक हीन वृत्तियाँ स्वत: ही उठकर हमारे मन पर अधिकार कर लेती हैं और हमें नीचे गिरा देती हैं।

परन्तु सद् वृत्तियों के साथ यह नियम घटित नहीं होता। अत्यन्त सावधानीपूर्वक कठोर साधना करके तब कहीं हम जीवन में किसी एक सात्त्विक प्रवृत्ति का विकास कर पाते हैं। किन्तु उस एक सद् वृत्ति के विकास के साथ-साथ अन्य सद् वृत्तियाँ स्वत: ही नहीं आ जातीं। उनमें से प्रत्येक को प्राप्त करने के लिये हमें भिन्न-भिन्न प्रयत्न तथा साधनायें करनी पड़ती हैं। तब कहीं वे जीवन में आ पाती हैं। उनके लिये हमें कठिन मूल्य चुकाना पड़ता है।

वृत्र का अर्थ घनीभूत अन्धकार होता है। यह अन्धकार हमारे अज्ञान का ही मूर्त रूप है। असुरों का सेनापति यह वृत्र ही हो सकता है। हमारी हीन असद्-वृत्तियाँ अज्ञान का आश्रय पाकर ही प्रबल होती हैं।

बुद्धि इन्द्र है। अज्ञानरूपी वृत्र बुद्धिरूपी इन्द्र पर प्रहार करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि बुद्धि के पराभूत होते ही इन्द्रिय-रूपी देवगण स्वयमेय वृत्र यानी अज्ञान के अधीन हो जाते हैं।

कई बार इन्द्र, देवगणों का पतन देखकर, अपने पराभव का आभास पा लेते हैं और तब अपनी रक्षा और विजय का उपाय पूछने ब्रह्मा के पास जाते हैं। प्रलोभनों के सम्मुख हमारी इन्द्रियाँ पराजित होकर जब भोगलोलुप होने लगती हैं तब व्यक्ति यदि सावधान हो तो बुद्धि रूपी इन्द्र को अपने ऊपर शीघ्र होने वाले आक्रमण का आभास मिल जाता है। तब वह अपनी रक्षा का उपाय पूछने विवेक रूपी ब्रह्मा के पास जाता है। ब्रह्मा उसे उसके त्राण और विजय का उपाय बताते हैं। यह उपाय सदैव अपने इन्द्रत्व या श्रेष्ठत्व के अभिमान के त्याग पर आधारित होता है। तभी तो इन्द्र अपना श्रेष्ठत्व त्यागकर महर्षि दधीच के पास याचक के रूप में जाकर उनसे अस्थियों का दान माँगते हैं।

तात्पर्य यह कि बुद्धिरूपी इन्द्र को भी अपने प्रखर तर्क-रूपी शस्त्र का अभिमान त्याग श्रद्धारूपी दधीच के पास याचक के रूप में जाना पड़ता है। ज्ञान ही इस श्रद्धा दधीच की अस्थियाँ हैं। श्रद्धा की चरम परिणति या उत्सर्ग ही ज्ञान है। यही दधीच का देहत्याग है। ज्ञान रूपी महावज्र से अज्ञान-वृत्र का नाश होता है।

❑❑❑

सब धन धूरि समान

एक व्यक्ति तथा उसकी पत्नी दोनों संसार से विरक्त हो घर-द्वार छोड़कर विभिन्न तीर्थ-क्षेत्रों की यात्रा करते हुए घूम रहे थे। चलते हुए उस व्यक्ति को राह में एक स्थान पर एक बहुमूल्य हीरा पड़ा हुआ दिखाई दिया। उसकी पत्नी कुछ पीछे थी। हीरे को देखते ही पति के मन में विचार आया, "हीरा देखकर मेरी पत्नी के मन में लोभ पैदा न हो जाय" और वह तुरन्त उसे ढाँकने के लिए उस पर धूल उठाकर डालने लगा। इतने में उसकी पत्नी निकट आ पहुँची और उसने पूछा, "यह क्या कर रहे हो?" पति झेंप गया। पत्नी ने पैर से धूल हटाकर उस हीरे को देखते हुए कहा, "अब भी तुम्हारे भीतर हीरे और धूल में भेदबुद्धि बनी हुई है ! तब तुम घर छोड़कर जंगल में आये ही क्यों?"

— *श्रीरामकृष्ण*

प्रयाग में स्वामी विवेकानन्द (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अपनी प्रारम्भिक यात्राओं के दौरान स्वामी विवेकानन्द का इलाहाबाद में भी आगमन हुआ था। प्रस्तुत है सविस्तार विवरण। – सं.)

प्रयाग में धर्मचर्चा

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में प्रयाग पहुँचने के बाद २२ जनवरी को गाजीपुर पहुँचने के पूर्व तक स्वामीजी ने लगभग तीन सप्ताह वहाँ बिताये थे।

योगानन्दजी की बीमारी के पीछे मानो यह दैवी उद्देश्य निहित था – उन्हें इस नगर में आकर धर्मप्रचार में नियोजित करना। पुरानी जीवनी के अनुसार उन दिनों स्वामीजी विवेक-चूड़ामणि के भावों से अभिभूत थे। प्रयाग की जनता भी उनकी विद्वत्ता, विशद ज्ञान, सरल व्यवहार, तेजोमय वाणी, मधुर वार्तालाप और सुरीले भजनों आदि से मुग्ध हुई। इन दिनों स्वामीजी प्राय: सामाजिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर ही चर्चा करते। कभी वे सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना करने लगते, तो दूसरे ही क्षण सनातन धर्म के मूल तत्त्वों की प्रशंसा करते हुए उन्मत्त हो उठते।

इस प्रसंग में भगिनी निवेदिता लिखती हैं – "स्वामी सदानन्द का कहना है कि वहाँ उन्होंने अनेक दिनों तक धर्मशिक्षा दी। योगानन्द की अस्वस्थता मानो उन्हें वहाँ लाने के लिये एक नैमित्तिक घटना मात्र थी। पूरा नगर आन्दोलित हो उठा और अनेक लोग उनके पास आने-जाने लगे। दिन-रात निरन्तर लोग छोटी-छोटी टोलियों में उनके पास आते और जाते रहते और स्वामीजी सर्वदा उच्चतम तथा महानतम मनस्थिति में विराज रहे थे। और एक समय उन्होंने एक मुसलमान सन्त, एक परमहंस को देखा, 'जिनके चेहरे की प्रत्येक रेखा तथा सलवट बता रही थी कि वे एक परमहंस हैं।' और वह एक महान् क्षण था। "कभी वस्त्रहीन, कभी पागल, कभी विद्वान् तो कभी मूर्ख, कभी अनाचारी तो कभी सन्त – परमहंस लोग विविध रूपों में पृथ्वी पर विचरण किया करते हैं" – उन शिष्य (सदानन्द) के शब्दों में शंकराचार्य-रचित 'विवेक-चूड़ामणि'[१०] के इन शब्दों में 'परमहंस के लक्षण' दुहराते हुए 'पूरी रात उत्तेजित रहे'।"[११]

झूसी में तपस्या

महेन्द्रनाथ दत्त बताते हैं कि स्वामीजी ने अपने गुरुभाई के साथ कुछ काल झूसी में तपस्या भी की थी। "उन दिनों वे क्षेत्र से माधुकरी करके दाल-रोटी ले आते और उसी को खाकर गुफा में निवास करते। ....[१२]

इलाहाबाद के अन्य भक्त मन्मथनाथ गांगुली १८९७ ई. के दिसम्बर में स्वामीजी का दर्शन करने बेलूड़ मठ गये। उस समय उनके साथ भी स्वामीजी के प्रयाग-यात्रा की बात उठी थी। मन्मथनाथ अपनी स्मृति-कथा में लिखते हैं – "एक दिन स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'तू तो इलाहाबाद में रहता है, डॉक्टर नन्दी[१३] को जानता है क्या?' मैंने कहा, 'हाँ।' स्वामीजी कहने लगे, 'मैं जब झूसी में रहता था, तो कभी-कभी डॉक्टर नन्दी के घर भिक्षा कर आता था। उनके साथ मेरी अच्छी पहचान थी।' डॉक्टर नन्दी श्रीरामकृष्णदेव के एक भक्त थे। बचपन से ही वे ठाकुर के पास जाया करते थे। उनके साथ मेरा भी परिचय हो गया था। मैंने उनसे सुन रखा था कि ठाकुर के प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द कई महीने (एक या दो हफ्ते) गंगा के उस पार – जहाँ साधु-संन्यासी रहा करते हैं – वहीं रहे थे। उन दिनों भयंकर जाड़े का मौसम था। दोपहर के समय भोटिया कम्बल का आधा हिस्सा कमर में लपेटे और आधा शरीर पर डाले वे नंगे पाँव पाँच-छह मील पैदल चलकर डॉ. नन्दी के घर जाते और भिक्षा ग्रहण करने के बाद पैदल ही लौट जाते। पश्चिमी भारत के साधुओं में ऐसी ही कठोरता प्रचलित थी, परन्तु स्वामीजी की कठोरता उनसे भी आगे निकल गयी थी।"[१४]

---

१०. विवेक-चूड़ामणि (५४०) का वह श्लोक तथा उसका भावार्थ –

दिगम्बरो वापि साम्बरो वा, त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा, पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम्॥

– ब्रह्मज्ञ (परमहंस) लोग कभी निर्वस्त्र, कभी वस्त्र पहने और कभी वल्कल या मृगचर्म धारण किये रहते हैं। (अर्थात् अपने बाह्य परिधान की ओर ध्यान न देते हुए) वे चेतना-रूपी वस्त्र में स्थित होकर कभी पागल, कभी बालक और कभी पिशाच के समान आचरण करते हुए (निर्लिप्त भाव से) पृथ्वी पर विचरण किया करते हैं।

११. निवेदिता ग्रन्थावली (अंग्रेजी), प्र.सं., खण्ड १, पृ. ५८

१२. स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, (पूर्वोद्धृत) भाग १, पृ. २०८

१३. मन्मथ बाबू की स्मृतिकथा में उल्लिखित डॉ. नन्दी कौन थे? सम्भव है कि मुद्रण आदि की भूल के कारण डॉ. बसु के स्थान पर डॉ. नन्दी का नाम आ गया हो। हमारा अनुमान है कि स्वामीजी ने डॉ. बसु का ही हालचाल पूछा था।

१४. Reminiscences of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Admirers, Mayavati, Ed. 1961, P. 355-56

कमर में पीड़ा

इस प्रकार हमें लगता है कि प्रयाग के भक्तों ने स्वामीजी से अनुरोध किया था कि वे माघ का पूरा महीना वहीं कल्पवास करते हुए बितायें। और स्वामीजी ने भी राजी होकर झूसी जाकर कल्पवास किया, परन्तु वहाँ की कड़ाके की ठण्ड के फलस्वरूप उनकी कमर में दर्द भी हो गया था। बाद में गाजीपुर से उन्होंने ११ फरवरी (१८९०) को बलराम बाबू के नाम अपने पत्र में लिखा था – "कमर की पीड़ा से मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। यह इलाहाबाद में शुरू हुआ था। बीच में ठीक हो गया था, परन्तु फिर उभर आया है। इसलिये मुझे यहाँ कुछ दिन और रहना होगा।"[१५] फिर १३ फरवरी को वे प्रमदादास मित्र को लिखते हैं – "कमर में एक प्रकार का दर्द बना हुआ है, हाल में यह दर्द बहुत बढ़ गया है और कष्ट दे रहा है।"

गाजीपुर के लिये प्रस्थान

२१ या २२ जनवरी को स्वामीजी इलाहाबाद से गाजीपुर के लिये चल पड़े। आगे हमने देखा कि काफी काल से स्वामीजी के मन में काशी जाकर बाबा विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा का दर्शन करने की इच्छा अत्यन्त प्रबल थी, परन्तु वे सहसा ही गाजीपुर जा पहुँचे। यह कैसे हुआ?

कलकत्ते में ब्रह्मसमाज के लोग गाजीपुर के प्रसिद्ध सन्त पवहारी बाबा से परिचित थे। वचनामृत में हम पढ़ते हैं – किसी ने गाजीपुर से लौटकर श्रीरामकृष्ण को बताया था कि पवहारी बाबा के कमरे में उनका चित्र टँगा हुआ है। स्वामीजी भी उनके विषय में पहले से ही सुनते आये थे, यहाँ उनके बारे में सुनकर उनके मन में बाबा का दर्शन करने की इच्छा बलवती हो उठी। श्रीश चन्द्र बसु गाजीपुर के मुंशिफ थे और इलाहाबाद में वे स्वामीजी से बड़े घनिष्ठ रूप से मिले थे। सम्भव है उन्हीं से सम्पर्क के कारण स्वामीजी के मन में काफी काल से सुप्त 'पवहारी बाबा' के दर्शन करने की इच्छा पुन: जाग उठी। (विज्ञानानन्द जी के चरित्र में मेजर वामन दास वसु, तथा उनके अन्य भाइयों की चर्चा है, अभेदानन्द आत्मकथा में भी) हम कह सकते हैं कि स्वामी योगानन्द जी की बीमारी को निमित्त बनाकर दो ऐतिहासिक घटनाएँ हुईं – स्वामीजी का प्रयाग तथा गाजीपुर जाना। इन दोनों स्थानों की स्मृतियाँ तथा अनुभव स्वामीजी के परवर्ती जीवन में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार किये हुए हैं।

मार्च में पुनः प्रयाग आने का विचार

२२ जनवरी (१८९०) को गाजीपुर पहुँचने के बाद से स्वामीजी का वाराणसी के प्रमदादास मित्र के साथ सतत पत्र-व्यवहार चल रहा था। छह सप्ताह गाजीपुर में बिताने के बाद ८ मार्च को स्वामीजी उन्हें लिखते हैं – "आपका पत्र मिला, अतएव मैं भी प्रयाग के लिये प्रस्थान कर रहा हूँ। आप प्रयाग में कहाँ ठहरेंगे, कृपया लिखें।" इससे लगता है कि उनका दुबारा प्रयाग आने का भी विचार था, परन्तु उनका फिर कभी प्रयाग आना नहीं हो सका।

१५. पत्रावली (बँगला), स्वामी विवेकानन्द, सं. १९८७, पृ. २४

अखण्डानन्दजी को इलाहाबाद जाने की सलाह

कुछ काल बाद स्वामीजी पुन: अपने गुरुभाई अखण्डानन्द के साथ हिमालय की यात्रा पर निकले, पर अखण्डानन्द जी की अस्वस्थता के कारण उन्हें यह यात्रा बीच में ही स्थगित कर देनी पड़ी। देहरादून में तीन सप्ताह रहकर उनकी चिकित्सा कराने के बाद स्वामीजी को प्रयाग के डॉ. गोविन्द चन्द्र वसु तथा अन्य भक्तों की याद आयी। उन्होंने अखण्डानन्द जी को प्रयाग जाकर उन्हीं के यहाँ निवास करने की सलाह दी और स्वयं ऋषीकेश चले गये। अखण्डानन्द जी पहले सहारनपुर गये और वहाँ से, इलाहाबाद जाने का विचार छोड़कर मेरठ के डॉ. त्रैलोक्य नाथ घोष के घर चले गए।

इलाहाबाद में केन्द्र

अमेरिका से लौटने के पूर्व ही स्वामीजी अपना कार्य शुरू करने के लिये जो पाँच केन्द्र बनाना चाहते थे, उनमें से एक इलाहाबाद में भी होनेवाला था। लंदन से वे २० नवम्बर १८९६ को आलसिंगा के नाम पत्र में लिखते हैं – "श्री सेवियर और उनकी पत्नी **अल्मोड़ा** में एक स्थान बनाने का सोच रहे हैं, जिसे मै अपना 'हिमालय का केन्द्र' बनाऊँगा ...। मेरी वर्तमान कार्य-योजना यह है कि युवक प्रचारकों को शिक्षा देने के लिए दो केन्द्र – **कलकत्ता** और **मद्रास** में – स्थापित करना। ... इन तीनों केन्द्रों से हम काम आरम्भ करेंगे। इसके बाद **बम्बई** और **इलाहाबाद** में करेंगे।"

'ब्रह्मवादिन क्लब' का इतिहास

स्वामीजी की प्रेरणा तथा सहायता से उनके चेन्नै के भक्तों ने १४ सितम्बर, १८९५ ई. से अंग्रेजी भाषा में 'ब्रह्मवादिन' नामक पाक्षिक पत्रिका निकालना आरम्भ किया था। उसी से प्रेरित होकर सम्भवत: १८९६ ई. में 'ब्रह्मवादिन-क्लब' की स्थापना हुई। कलकत्ते के शरत्चन्द्र मित्र ने वहाँ के पारसी बागान में 'रामकृष्ण-समिति' की स्थापना की थी। उनका वराहनगर मठ में भी आना-जाना था। उन्हीं दिनों वे जलवायु-परिवर्तन हेतु इलाहाबाद आये और एक शिवालय के एक छोटे-से कमरे में श्रीरामकृष्ण का चित्र रखकर पूजा-पाठ आदि करने लगे। उनके समवयस्क कुछ स्थानीय युवक भी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: श्रीरामकृष्ण-भावधारा से परिचित हुए। शरत् बाबू के प्रोत्साहन से सबने मिलकर एक क्लब की स्थापना की, जो 'ब्रह्मवादिन-क्लब' कहलाया। इस क्लब के अन्य सदस्य थे – हरेन्द्रनाथ दत्त, मन्मथनाथ गांगुली, अमूल्य मुखोपाध्याय तथा सिधूलाल बसु।

स्वामीजी के सान्निध्य में मन्मथनाथ गांगुली

'ब्रह्मवादिन-क्लब' के एक सदस्य मन्मथ नाथ गांगुली दिसम्बर (१८९८) के अन्त में एक दिन बेलूड़ मठ गये और स्वामीजी से भेंट की। इस भेंट का वर्णन करते हुए वे स्वयं लिखते हैं – "स्वामीजी ने एक ब्रह्मचारी से चाय लाने को कहा। तम्बू के भीतर ही मुझे चाय तथा ठाकुर का प्रसाद दिया गया। इसके बाद स्वामीजी ने मेरा परिचय पूछा कि मैं कहाँ रहता हूँ, क्या करता हूँ, आदि। मैंने बताया – इलाहाबाद में रहता हूँ। मठ में इसके पूर्व भी मैं जाया करता था और सम्भवत: किसी के मुख से उन्होंने मेरा नाम सुन रखा था। इलाहाबाद में मेरे कुछ मित्र श्रीरामकृष्ण का चित्र रखकर पूजा किया करते थे। हम लोग जहाँ पूजा करते, वहीं जप, ध्यान तथा धर्मग्रन्थों का पाठ और उन पर चर्चा भी हुआ करती थी। हमारी संस्था का नाम था 'ब्रह्मवादिन-क्लब'। उस समय स्वामीजी के साथ इस विषय में कोई चर्चा नहीं हुई, परन्तु उनके भाव से लगा कि उन्होंने इस विषय में सुन रखा है। इसके बाद स्वामीजी मठ के भीतर चले गये और मैं अन्य भक्तों के साथ बैठा रहा। ...

"इसके थोड़े दिनों बाद ही मैं कलकत्ते से इलाहाबाद लौट आया। उन दिनों मैं 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में रहा करता था। पूजनीय विज्ञान महाराज भी हमारे क्लब में आकर रहा करते थे। उन दिनों (स्वामीजी की प्रेरणा से) 'ब्रह्मवादिन' नाम की एक पत्रिका निकल रही थी। इस नाम ने हम लोगों के मन पर अधिकार कर लिया था और उसी के अनुसार क्लब का नामकरण हुआ था। छुट्टी पाते ही मैं कलकत्ते तथा बेलूड़ मठ चला जाता। परन्तु हर बार स्वामीजी से भेंट नहीं हो पाती। इसी प्रकार एक बार बेलूड़ मठ जाकर पता चला कि वे अन्यत्र गये हैं। मठ में पूजनीय राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) थे। इसके पहले मैं उनके पास अनेकों बार गया था। मैं उन्हें देखता – वे बातें बहुत कम करते और बहुधा भावमग्न अवस्था में रहते। सुना था कि उनकी आध्यात्मिक अवस्था बड़ी ऊँची है। ठाकुर ने स्वयं उन्हें अपना मानसपुत्र कहा था; परन्तु इस उक्ति के तात्पर्य को समझना मेरे वश की बात नहीं थी। सुनने में आता था और मेरा विश्वास भी था कि वे अन्तर्यामी हैं। उन दिनों मेरे मन में कई संशय थे। मैं यह आशा लेकर चुपचाप उनके सामने बैठा रहा कि मेरे कहे बिना भी वे उन शंकाओं को समझकर समाधान कर देंगे। वे भी बिना कुछ कहे अपने भाव में तन्मय बैठे रहे। ...

एक अन्य समय जब मन्मथ बाबू बेलूड़ मठ गये, उस दिन का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं – "दोपहर के करीब बारह बज रहे थे। स्वामीजी ने सहसा मुझसे पूछा, 'साधु अमूल्य इलाहाबाद में रहता है। तुम उसे पहचानते हो?' मैंने कहा, 'हाँ।' उन्होंने फिर पूछा, 'उसके साथ तुम्हारी बातचीत हुई है क्या? वह कैसा है? उसके बारे में सारी बातें मुझे बताओ।' मैंने संक्षेप में उन्हें सब कुछ बताया। साधु अमूल्य ने कभी प्लेग तथा हैजे के रोगियों की खूब सेवा की थी। उन दिनों वे गेरुआ नहीं पहनते थे। लोगों की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बाद में वे गँजेड़ियों की एक टोली के 'गुरुजी' बन गये और गेरुआ पहनने लगे। क्रमश: वे अध:पतन की चरम सीमा तक पहुँच गये और उनका आचरण काफी-कुछ अघोरी सम्प्रदाय के जैसा हो गया था। वे वस्त्र आदि छोड़कर नागाओं की भाँति दिगम्बर रहने लगे थे और स्वयं को 'सोऽहम्'-सम्प्रदाय का बताया करते थे।

"एक बार कुम्भ मेले में मैंने साधु अमूल्य को देखा था। पर उन्हें घेरे हुए उनके भक्तों के अद्‌भुत आचरण देखकर मैं ठगा-सा रह गया था। कभी मैं उनके सेवा-भाव से प्रेरित होकर उनके साथ बड़ा घनिष्ठ हुआ था, पर बाद में उनका चरम पतन देखकर मैंने उनसे अपना सम्पर्क तोड़ लिया था।

"स्वामीजी यह सब सुनकर बड़े दुखी हुए और थोड़ी देर चुप रहे। तदुपरान्त वे कहने लगे, 'Ah ! a great soul ! a great soul ! – अहा ! महापुरुष ! महापुरुष !'

"साधु अमूल्य के ऐसे अध:पतन के बाद भी स्वामीजी ने केवल उनके निर्भीक हृदय तथा सेवागत प्राण को ही देखा था। उनके दोषों की बात एक बार भी उनके मन में नहीं आई। उन्होंने मुझसे कहा, 'उसका यह जीवन तो व्यर्थ चला गया, परन्तु अगले जन्म में वह मुक्त हो जाएगा।' बातचीत के दौरान स्वामीजी ने बताया कि अमूल्य उनके साथ कॉलेज में पढ़ता था। छात्र-जीवन में वह एक अच्छा लड़का था, मेधावी तथा बुद्धिमान था। तब भी उसके हृदय में उदारता तथा ज्ञानमार्ग के प्रति प्रबल आकर्षण था। उसे गुरु बनाने में विश्वास न था। उसके साधना-जीवन में केवल पुस्तकें तथा उसके अपने संस्कार ही प्रधान अवलम्बन थे।

"लगता है कि अमूल्य अपने कॉलेज-जीवन में नरेन्द्रनाथ से विशेष प्रभावित हुए थे। बाद के दिनों में वे सम्भवत: कुछ-कुछ अघोरी तथा नागा सम्प्रदायों के प्रभाव में आ गये थे। फिर उनके भक्त तथा प्रशंसक लोग विशेष स्वच्छ संस्कारों के नहीं थे। इस कारण उनके लिए वेदान्त के 'सोऽहम्' भाव के साथ निकृष्ट साधना-पद्धतियों का सम्मिश्रण होने में कोई आश्चर्य की बात न थी। अस्तु।

"स्वामीजी को उनके लिए काफी विचलित देखकर मैं चुपचाप बैठा रहा। स्वामीजी बोले, 'मन्मथ, इस बार तुम इलाहाबाद लौटकर अमूल्य से भेंट करना और कहना कि मैंने ही तुम्हें उसके पास भेजा है। उससे पूछना कि उसे क्या चाहिए। जो कुछ भी कहे, वह तुम उसके लिए ला देना।'

"इलाहाबाद लौटते ही मैं 'गुरुजी' के पास गया। उनसे

मिले काफी अर्सा हो चुका था। पहुँचते ही बोला, 'महाराज, स्वामीजी के कहने से ही मैं आपके पास आया हूँ, अन्यथा नहीं आता। आपको क्या-क्या चाहिए, मुझे बताइये; मैं वह सब ला दूँगा। स्वामीजी ने मुझे ऐसा ही आदेश दिया है।'

"मेरी बातों में निहित कटाक्ष की परवाह न करते हुए अमूल्य उत्फुल्ल स्वर में बोले, 'ओ ! तुम्हें स्वामीजी ने भेजा है? स्वामीजी ! उन्होंने मेरे बारे में क्या कहा?' मेरे सब कुछ यथावत् विस्तारपूर्वक बताते समय वे चुपचाप बैठे रहे और उनके दोनों नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। भावावेग का थोड़ा संवरण करके वे बोले, 'तुम मेरे लिए चार-पाँच सेर गाय का घी और थोड़े-से फल ला देना।' कुछ दिनों के भीतर ही मैंने एक पात्र में गाय का घी जुटा लिया। उत्तरी भारत में भैंस का घी काफी मिलता है, परन्तु गाय का घी दुष्प्राप्य है। कई सेर गाय का घी और कुछ फल ले जाकर मैं उन्हें दे आया। ये साधारण-सी चीजें थीं, परन्तु अमूल्य साधु उन्हें पाकर विशेष प्रसन्न हुए। यही मेरा उनके पास अन्तिम बार जाना था। कुछ दिन मैंने उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। बाद में पता चला कि उनका देहान्त हो गया है।

"साधु अमूल्य ने स्वामीजी की बातें सुनकर अदृश्य रूप से उनकी कृपा का अनुभव किया था। किशोरावस्था में जो वेदान्त-दर्शन उनका लक्ष्य-वस्तु था, स्वामीजी की कृपा से अवश्य ही उसका आभास उन्हें मिला होगा। लगता है कि बन्धु-भाव से स्मरण करके भी स्वामीजी ने उन पर गुरुकृपा की थी। अपने अन्तिम दिनों में अमूल्य ने प्रायोपवेशन का संकल्प लेने के बाद गंगातट पर जाकर माँ भागीरथी की गोद में अपने पाप-पुण्य के संस्कारों को विसर्जित करके साधना के जगत् में प्रवेश किया था। कौन जाने कि वे पुन: जन्म लेकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए फिर कहीं तपस्या कर रहे हों !

"स्वामीजी ने कहा था, 'साधु अमूल्य ने गुरु नहीं बनाया था, इसीलिए ऐसा हुआ। साधु के पतन की सम्भावना होने पर उसके गुरु ही उसे असन्तुलित होने से बचाते हैं; गुरु ही उसकी रक्षा करते हैं।'

"मैंने पूछा, 'महाराज, यदि मेरा पतन हो, तो क्या आप मेरी रक्षा करेंगे?' स्वामीजी गम्भीर स्वर में बोले, 'जरूर करूँगा। तेरा पतन हो ही नहीं सकता। और यदि तू नर्क में भी चला जाय, तो तेरी चुटिया पकड़कर खींच लाऊँगा।' "[१६]

स्वामी विज्ञानानन्द का आगमन

१९०० ई. के मध्य भाग में शरत् बाबू कोलकाता लौट गये और तब से अन्य युवक इसे चलाते रहे। इनमें से अधिकांश उन दिनों छात्र ही थे। एक दिन इन युवकों ने सुना कि श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द आकर मुट्ठीगंज में डॉ. महेन्द्रनाथ ओहदेदार के यहाँ ठहरे हैं। अगले दिन उन लोगों ने जाकर महाराज का दर्शन किया और 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में चरणधूलि देने का अनुरोध किया।[१७]

स्वामी विवेकानन्द जी की विशेष इच्छा थी कि विज्ञानानन्द प्रयाग में रहकर श्रीरामकृष्ण-भावधारा का प्रचार करें। अत: वे "नवयुवकों के अनुरोध पर उनके द्वारा गुड्सशेड रोड पर स्थापित 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में चले आये। ब्रह्मवादिन-क्लब में उन्होंने दस वर्ष बिताये थे। उनके जीवन का वह काल तपस्या तथा साधना से परिपूर्ण था। भोजन पकाना, बरतन माँजना, पड़ोस से पानी लाना आदि दैनन्दिन गृहकर्म वे अपने हाथों से किया करते थे। ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही उठकर कुछ घण्टे ध्यान में बिताने के पश्चात् दोपहर तक का शेष समय वे पूजा तथा अध्ययन आदि में व्यतीत करते। दोपहर को वे फिर ध्यान करते। इन्हीं दिनों उन्होंने पं. भगवद्दत्त जी से वेदों का अध्ययन किया था। ग्रन्थ आदि के लिये श्रीश चन्द्र बसु का पुस्तकालय उनके लिये सर्वदा खुला रहता था। शाम के समय वे क्लब में आनेवाले बच्चों तथा युवकों के लिये गीता की कक्षा लिया करते।[१८]

स्वामीजी की महासमाधि – दर्शन

१९०० ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें प्रयाग में श्रीरामकृष्ण-भावधारा का प्रचार करने भेजा था। लगभग डेढ़ वर्ष बाद ही ४ जुलाई १९०२ के दिन स्वामीजी महासमाधि में लीन हुए। उसके कुछ दिन पूर्व ही स्वामी विज्ञानानन्द बेलूड़ मठ से लौटे थे। अपने देहत्याग के बाद स्वामीजी ने उन्हें इलाहाबाद में दर्शन दिया था। उन्हीं के शब्दों में –

"स्वामीजी के देहत्याग के समय मुझे एक अलौकिक दर्शन हुआ था। उस समय मैं इलाहाबाद के ब्रह्मवादिन क्लब के मन्दिर में बैठा ध्यान कर रहा था। देखा – स्वामीजी ठाकुर की गोद में बैठे हुए हैं। देखकर सोचा – अरे, यह क्या बात है? बाद में बेलूड़ मठ से तार मिला कि स्वामीजी ने देहत्याग कर दिया है।"

बाद में १९१० ई. स्वामी विज्ञानानन्द जी ने प्रयाग के मुट्ठीगंज मुहल्ले में एक भवन तथा उससे लगा एक भूखण्ड खरीदा और मकान की मरम्मत तथा नये भवन-निर्माण के बाद अक्तूबर माह में वहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई और महाराज तब से मठ में निवास करने लगे।[१९] ❑❑❑

१६. Reminiscences of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Admirers, Mayavati, Ed. 1961, P. 355-62

१७. स्वामी सदाशिवानन्द जी के संस्मरण (बँगला पुस्तक – प्रत्यक्षदर्शीर स्मृतिपटे स्वामी विज्ञानानन्द) पृ. २९०

१८. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, भाग २, प्रथम सं., पृ. ८३-८४

१९. स्वामी विज्ञानानन्द : जीवन और सन्देश, स्वामी विश्वाश्रयानन्द, इलाहाबाद, प्रथम सं., पृ. १९-२०

मातृ-स्मृति

स्वामी सारदानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(१८७२ ई. में) जयरामबाटी से दक्षिणेश्वर आने के रास्ते में (तारकेश्वर के पास चट्टी में) पहली बार माँ को माँ-काली का दर्शन हुआ।

माँ जब दक्षिणेश्वर में रहती थीं, तो ठाकुर कभी-कभी विभिन्न विषयों पर माँ की राय पूछते। माँ कहतीं, "मैं अभी कुछ कह नहीं सकती; बाद में सोचकर बताऊँगी।" ठाकुर कहते, "अभी बताओ न, क्या तुम्हें और किससे सलाह लेनी है, जो बाद में बताओगी?" तो भी माँ कहतीं, "बाद में सोचकर बताऊँगी।" उसके बाद वे नौबत में जाकर माँ-काली से बड़े कातर भाव से प्रार्थना करते हुए कहतीं, "माँ मुझे जो कुछ कहना है, बता दो।" ऐसा करने से उनके मन में उस विषय का एक समाधान उदय होता और वे जाकर ठाकुर को बता देतीं।

काशीपुर के उद्यान-भवन में जब ठाकुर की बीमारी काफी बढ़ गयी थी, तब माँ कातर होकर लेटी थीं। तभी देखा – लम्बे केशोंवाली वही काली स्त्री आकर पास बैठी। माँ ने कहा, "ओ माँ, तुम आयी हो।" माँ-काली, "हाँ, इसी दक्षिणेश्वर से आयी हूँ।" कुछ अन्य बातों के बाद माँ ने देखा उस काली स्त्री की गर्दन टेढ़ी थी। देखकर माँ ने पूछा, "तुम्हारी गर्दन तथा सिर इस प्रकार टेढ़ा क्यों है?" माँ-काली ने कहा, "गले में घाव के कारण।" माँ – "ओ माँ, उनके गले में घाव में हुआ है, तुम्हारे भी हुआ है?" माँ-काली – "हाँ।" इस प्रकार उन्होंने माँ को समझा दिया कि ठाकुर और वे एक ही हैं।

जिस समय ठाकुर काशीपुर में थे, तब एक दिन माँ उन्हें भोजन कराने ऊपर गयीं। बातों-बातों में ठाकुर ने कहा, "अष्टा-कष्टे* खेला है?" माँ – "नहीं"। ठाकुर – "उसमें गोटियों का जोड़ा बन जाने पर वह अन्य गोटियों से नहीं काटी जा सकती, उसी प्रकार इष्ट के साथ जुड़े रहने पर (जीव को) कोई भय नहीं रह जाता। अन्यथा पक्की गोटी कच्ची को काट देती है। इष्ट के साथ जुड़े रहने पर काटे जाने का भय नहीं रह जाता।" माँ सब बातें भी सुनती थीं और ठाकुर के विभिन्न कार्य भी करती जाती थीं। यह देखकर ठाकुर वह सब बातें कहते-कहते विनोदपूर्वक कह उठते, "ओ मौसी, यह बात सुन रही हो न?" माँ ने बताया, "मैं तो अवाक् रह गयी।"

माँ ने हलधारी को कभी नहीं देखा था, क्योंकि वे उनकी मृत्यु के बाद ही दक्षिणेश्वर आयीं। हलधारी के साथ अपना रिश्ता जाने बिना ही माँ द्वारा ठाकुर के सामने उनका (हलधारी) नाम लेने पर ठाकुर ने हृदय के द्वारा उनसे कहलवा दिया कि हलधारी उनके जेठ लगते थे, इसलिये उन्हें उनका नाम नहीं लेना चाहिये।

षोड़सी पूजा के समय हृदय सम्भवत: काली-मन्दिर में पूजा में व्यस्त था। या फिर उसे छिपाकर यह पूजा की गयी थी – यह ठीक ज्ञात नहीं है।... माँ ने गौरी पण्डित को देखा था। षोडशी पूजा के बाद माँ गाँव लौट गयीं।*

माँ की स्मृति

स्वामी मुक्तेश्वरानन्द

मैं १९१४ ई. के आरम्भ में बेलूड़ मठ आया। ट्रेन द्वारा बगुड़ा से सियालदह आकर सालकिया होते हुये मैं बेलूड़ मठ पहुँचा। माघ का महीना था, दोपहर के दो बजे थे। मेरी आयु तब १६ वर्ष थी। मठ में उन दिनों बाबूराम महाराज का आदेश था। उनकी दया से मुझे मठ में स्थान मिला। अस्तु, माघ बीता, फागुन का महीना आया; और ठाकुर के उत्सव का आयोजन शुरू हुआ।

ठाकुर की तिथि-पूजा आ गयी। तिथि-पूजा के दिन की बात मुझे ठीक से याद नहीं है, शायद भजन-कीर्तन आदि हुए थे। तो भी (अगले रविवार को हुए) उत्सव की बात मुझे अच्छी तरह याद है। चारों तरफ लोगों की भीड़ थी, सब जगह बाँस के मण्डप बनाये गये थे। एक ओर भजन हो रहा था, तो दूसरी तरफ काली-कीर्तन। चारों ओर एक दिव्य भाव विराज रहा था। मैं मन्दिर में काम कर रहा था और बीच

* गाँवों में कौड़ियों से खेला जानेवाला एक प्रकार का खेल

* स्वामी सारदानन्द को माँ के विषय में ये बातें योगीन-माँ से प्राप्त हुई थीं। सन्दर्भ – रामकृष्ण-सारदामृत (बँगला ग्रन्थ), स्वामी निर्लेपानन्द, कोलकाता, १९६८, पृ. २२-३

-बीच में बाहर आकर लोगों की भीड़ देख लेता था। भीड़ से मैं बड़ा घबड़ाता था। एक बार कालीघाट में माँ के मन्दिर की भीड़ में मुझे बड़ी तकलीफ हुई थी। खैर, जब मैं भीड़ देख रहा था, तभी सहसा भीड़ में से निकलकर एक सज्जन मेरी ओर अग्रसर हुए – उनके चेहरे पर दाढ़ी, नंगे बदन और धोती का छोर कन्धे पर पड़ा हुआ था। पास आकर स्नेहपूर्वक मेरा चेहरा देखते हुए बोले, "इधर आ। भूख से तेरा चेहरा बिल्कुल कुम्हला गया है। जरा ठहर।" वे इतना कहकर न जाने कहाँ से कुछ खाने को ले आये। जहाँ तक मुझे याद है, उसमें कुछ बुंदियाँ भी थीं। वे स्नेहपूर्वक मुझे अपने हाथों से खिलाने लगे और मेरे शरीर पर हाथ फेरने लगे। वे कौन हैं, कहाँ से आये हैं – मैं कुछ भी नहीं जानता था। वे कब चले गये – इसका भी मुझे पता नहीं चला। जब ख्याल आया, सन्देह हुआ – तब मैंने भीड़ में उन्हें बहुत खोजा, परन्तु उन्हें दुबारा नहीं देख सका। क्या स्वयं ठाकुर ही इस प्रकार मुझ पर कृपा करने आये थे? थोड़ा सन्देह अब भी मेरे मन में रह गया है। अब भी सोचता हूँ कि यह घटना कैसे सम्भव हुई। पूरे दिन खाने-पीने का होश ही नहीं रहा। मैं कभी भजन सुनता, कभी भीड़ देखता और मन्दिर का काम करता। इसी प्रकार सारा दिन बड़े आनन्द में बीत गया। उस दिन मेरा मन निरन्तर आनन्द से उद्वेलित हो रहा था।

संध्या के बाद, आरती के पहले या बाद में – मुझे ठीक से याद नहीं, मैंने सुना – माँ आयी हैं, अब वापस जा रही हैं। चन्दन वृक्ष और नागरी नामक गाय के पास गाड़ी खड़ी थी। उसमें माँ जायेंगी, सुनकर मैं दौड़ गया। तब तक माँ गाड़ी में बैठ चुकी थीं। गाड़ी का दरवाजा खोलकर – "माँ, माँ" – कहते हुए मैंने जल्दी से माँ के चरण स्पर्श किये। माँ ने भी – "आओ बेटा, आओ" – कहकर मुझे अभय दिया। इससे पहले मैंने कभी माँ को नहीं देखा था, लेकिन आश्चर्य की बात है कि ठीक माँ के चरणों में ही मेरा प्रणाम निवेदित हुआ। माँ को प्रणाम करके जब मैं लौटा, तब तक संध्या हो जाने से धीरे-धीरे लोगों की भीड़ छटने लगी थी, मैं एकाकी टहल रहा था और "माँ-माँ" कहता हुआ अपने हृदय में ही माँ को पुकार रहा था। मेरे दोनों नेत्रों से आनन्दाश्रु बहते रहे। एक अपूर्व भावावेग से मेरे मन-प्राण उद्वेलित हो उठे। इससे पूर्व मैंने कभी इस प्रकार के भाव का अस्वादन नहीं किया था। मेरा पूरा दिन और रात कितने आनन्द में बीता, इसे मैं कहकर नहीं समझा सकता।

चैत्र का महीना था। लड़कों की एक टोली अहिरीटोला से तैरती हुई दिन के ढाई बजे मठ के घाट पर आ पहुँची। उनके पास केवल गीले कपड़े और एक-एक गमछे थे। उन लोगों को देखकर बाबूराम महाराज स्नेह से अभिभूत हो उठे। उन्होंने मुझसे शीघ्रतापूर्वक लड़कों को कपड़े देने को कहा। उस समय मठ में अतिथियों के लिये कपड़े रखे रहते थे। उन्होंने उनसे गीले कपड़े उतारकर बैठने को कहा। सारे दिन के परिश्रम के बाद हम लोग विश्राम कर रहे थे। अत: हम लोगों से कुछ न कहकर वे स्वयं ही रसोई घर में गये। उस समय भी चूल्हे में धीमी आग जल रही थी। वे उसमें कोयले डालकर खिचड़ी बनाने की व्यवस्था करने लगे।

बाबूराम महाराज को रसोई घर में गये, देखकर हम लोगों में से कई लोग भागकर वहाँ पहुँचे और बोले, "महाराज, क्या कह रहे हैं? हम लोगों को बताइये कि क्या करना है, हम लोग कर देंगे।" बाबूराम महाराज ने कहा, "तुम लोग सारे दिन खटते रहे हो, अब फिर से यह सब करोगे?" हम लोगों के जिद करने पर उन्होंने हम लोगों से उस समय उपलब्ध सारी सब्जियों को डालकर खिचड़ी और साथ में कोई तली हुई चीज बनाने को कहा। खाना पक जाने पर सब कुछ ठाकुर के सामने रखकर वे बोले, "ठाकुर! लड़के लोग आये हैं। उनके खाने की थोड़ी-सी व्यवस्था हुई है। तुम थोड़ा-सा खाकर इसे प्रसाद कर दो। लड़के तुम्हारा प्रसाद खायेंगे।" उन दिनों मठ में सर्वत्र ठाकुर का पट ही रहता था। इसके बाद बाबूराम महाराज ने स्वयं खड़े होकर उनके प्रसाद पाने की व्यवस्था की। उनका खाना-पीना समाप्त होते-होते लगभग चार साढ़े चार बजे गया था। तत्पश्चात् वे उन लोगों के साथ बैठकर ठाकुर की चर्चा करने लगे।

बैशाख का महीना था। अक्षय तृतीया के दिन (२८ अप्रैल, १९१४) पूर्व बंगाल से कुछ लड़के दीक्षा के लिये आए हैं। कृष्णलाल महाराज से पत्र-व्यवहार करके वे लोग माँ से दीक्षा लेने के लिए आए हैं। कृष्णलाल महाराज की इच्छा थी कि मैं भी दीक्षा लूँ। लेकिन मैंने उनसे दीक्षा के लिए नहीं कहा था। कृष्णलाल महाराज ने स्वयं ही कहा – "इस समय शायद तू सोच रहा है कि केवल मैं ही बाकी रह गया! दीक्षा लेगा?" मैंने उनकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। ये बातें रात में भोजन के बाद हुई थीं। सुबह उठकर मैं मन्दिर का काम कर रहा था, तभी सहसा बाबूराम महाराज आकर बोले, "जा बेटा, माँ के पास बलि होकर आ।" मैं उनकी बात का ठीक अर्थ नहीं समझ सका। बाबूराम महाराज ने कहा, "अरे जा, माँ से दीक्षा ले आ।" मन-ही-मन इच्छा थी कि मैं बाबूराम महाराज से दीक्षा लूँ। मुझे चुप देखकर वे उत्साहपूर्वक बोले, "माँ ही हम लोगों की सब कुछ है। माँ की कृपा पाने का अर्थ है ठाकुर की ही कृपा पाना है। माँ को देखना और ठाकुर को देखना – दोनों एक ही बात है।" तभी कृष्णलाल महाराज भी वहाँ आ पहुँचे। बाबूराम महाराज ने उनसे कहा, "जाओ कृष्णलाल, इसे भी ले जाओ।"

इसके बाद हम लोग गंगातट पर गये। छोटी नौका में सवार होकर हम लोग बागबाजार के घाट पर पहुँचे। इसी

बीच हमारा गंगास्नान हो चुका था। कृष्णलाल महाराज हम लोगों को लेकर उद्‌बोधन पहुँचे। मुझे याद है ललित महाराज (स्वामी कमलेश्वरान्द) भी हम लोगों के साथ थे। वे भी दीक्षार्थी थे। पूर्व बंगाल के दो लड़के थे – नारायण और दिनेश। हम कुल पाँच लोग थे। एक-एक करके हम लोगों की दीक्षा हुई। मैंने देखा कि हम में से प्राय: सभी लोग कोई-न-कोई वस्तु लेकर माँ के पास गये थे। मैं कुछ भी नहीं ले गया था। दीक्षा लेने के बाद मैंने माँ से कहा, ''सभी लोगों ने तो आपको बहुत-सी चीजें दी हैं। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। मैं आपको कुछ भी नहीं दे सका !'' इस पर माँ बोलीं, ''माँ ही पुत्र को देती है। पुत्र भला माँ को क्या देगा? तुम्हें कुछ नहीं देना होगा।'' एक विचित्र बात यह हुई कि माँ ने मुझे जो दीक्षा दी, उसे मैं भूल गया। दीक्षार्थियों की जल्दबाजी के कारण मुझे नीचे उतर आना पड़ा। शाम को कृष्णलाल महाराज सहसा बोले, ''जाओ, तुम लोग एक बार फिर माँ से अपना-अपना मंत्र पूछकर आओ।'' मैं जाकर माँ से बोला, ''मेरा मंत्र एक बार फिर बोल दीजिये।'' माँ ने मेरा मंत्र दुहरा दिया। कृष्णलाल महाराज यदि उस समय यह बात न कहते, तो मेरी मुश्किल हो जाती। हम लोग माँ को प्रणाम करके मठ लौट आये।

मन में कोई सन्देह होने पर मैं सीधा माँ के पास उद्‌बोधन में जा पहुँचता। मैं मठ में आकर देखता और सुनता कि ठाकुर के प्रत्येक शिष्य साक्षात् ईश्वर हैं, भगवान हैं और माँ स्वयं भगवती हैं। जो लोग माँ के कृपापात्र हैं, उनका यह अन्तिम जन्म है। उस समय में छोटा ही था। 'अन्तिम जन्म' क्या है, यह मैं नहीं समझता था, तो भी अपनी एक धारणा थी कि 'अन्तिम जन्म' अर्थात् फिर जन्म नहीं लेना होगा।

अस्तु, एक बार अवसर देखकर उद्‌बोधन में माँ के पास जा पहुँचा। मैं माँ को 'तुम' कहकर ही पुकारता था। मैंने माँ से पूछा, ''माँ, तुम्हें या ठाकुर के सभी शिष्यों को सभी लोग ईश्वर, भगवान या भगवती कहते हैं – क्या यह सत्य है?'' माँ ने कहा, ''हाँ बेटा, सत्य है।'' मैंने फिर पूछा, ''माँ, सब कहते हैं कि जिनकी तुमसे दीक्षा हुई है, उनका यह अन्तिम जन्म है – क्या यह सत्य है?'' माँ ने कहा, ''हाँ बेटा, यह बात भी सत्य है। जिन्होंने मुझसे या राखाल से दीक्षा पाई है, उनका यह अन्तिम जन्म है। सम्भव है कि किसी-किसी को जन्म लेना पड़े, परन्तु वह भी जब ठाकुर आयेंगे, तब उनके साथ ही उन लोगों को आना पड़ेगा। और तुम्हारा तो अन्तिम जन्म का आधार है। तुम्हारा फिर जन्म नहीं होगा।''

मैं मठ लौट आया। एक दिन स्वप्न में देखा – माँ मुझसे कह रही हैं – ''तुम्हें विवाह करना होगा और दक्षिण भारत में जन्म लेना होगा।'' स्वप्न में ही मैंने माँ से कहा – ''माँ, मैं तो साधु हो गया हूँ, तो भी मुझे विवाह करना होगा?'' माँ ने कहा – ''हाँ, बेटा, तुम्हें विवाह करना होगा।'' मेरी नींद खुल गयी। मन में घोर अशान्ति हुई। मैं पुन: माँ के पास गया। पूछा, ''माँ, स्वप्न में तुमने जो कहा क्या वह सत्य है?'' कहते-कहते मेरे नेत्र भर आये। स्वप्न का विवरण सुनाकर मैंने माँ से पूछा, ''तो क्या मुझे फिर से जन्म लेना होगा?'' माँ हँसकर मेरे सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं, ''नहीं बेटा, तुम्हें जन्म नहीं लेना पड़ेगा। तुम्हारा तो यह अन्तिम जन्म है।'' कहकर माँ ने मेरा रिष्टिभोग (रिष्टि अर्थात् पाप, अमंगल तथा गृहदोष) काट दिया। मैं तो अबोध ठहरा, प्रश्न करके सब कुछ जान लेने की क्षमता मुझमें नहीं थी या मन में प्रश्न उठने पर भी उसे व्यक्त नहीं कर पाता था। इस प्रसंग में माँ बोलीं, ''महामाया की ऐसी लीला है – ठाकुर के एक भक्त संन्यास लेकर साधन-भजन करने ऋषीकेश गये – लौटकर पत्नी से मिलने गये, तो फिर वापस नहीं लौटे। महामाया की कृपा हुए बिना कुछ भी नहीं होता !''

एक बार मेरे मन में माँ की सेवा करने की प्रबल इच्छा हुई। माँ उद्‌बोधन में मातृ-मण्डली के बीच रहती थीं। अत: हम पुरुषवर्ग को उनका अधिक सान्निध्य नहीं मिल पाता था। महिलाओं के साथ रहने के कारण माँ भी लड़कों के साथ अधिक मिल-जुल नहीं पाती थीं; शरत् महाराज भी लड़कों का माँ के पास जाना पसन्द नहीं करते थे। अत: मेरे लिए उद्‌बोधन जाकर माँ की सेवा करना सम्भव नहीं था। माँ स्वयं ही अपने सेवकों को चुना करती थीं। और हम लोग मठ में रहते थे। मैं ठाकुर की तिथिपूजा के पहले मठ आया था, अत: एक वर्ष हो गया था। माँ (मठ में) आयीं। मैं उस समय मन्दिर के काम में व्यस्त था। ठाकुर को भोग दिया जा चुका था। अब माँ अपनी संगिनियों अर्थात् राधू, माकू, नलिनी आदि अपनी भतीजियों तथा अन्य महिलाओं के साथ प्रसाद पायेंगी। रासबिहारी महाराज आकर मुझसे बोले, ''तुम्हारा मन्दिर का काम हो गया है? भोग दिया जा चुका है, तुम हाथ धोकर तुरन्त आओ और माँ को प्रसाद दो।'' रासबिहारी महाराज के निर्देशानुसार मैंने ठाकुर के भोग की थाली तथा कटोरियों में व्यंजन आदि सब कुछ माँ के सामने रखा। उस बार माँ की सेवा की व्यवस्था स्वामीजी के भवन के दुमंजले पर पूर्वमुखी बरामदे में हुई थी। वहाँ पर माँ अपनी संगिनियों के साथ बैठी थीं। मैंने प्रसाद सहित ठाकुर के भोग की थाली माँ के सामने रखी। वे उसी थाली से उठा-उठाकर खाने लगीं और मुझसे उसी में से लेकर महिलाओं को प्रसाद देने को कहा। तत्पश्चात् उन्होंने ठाकुर की खीर की कटोरी से भी प्रसाद बाँटने को कहा। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि ठाकुर के पात्र में कोई इस प्रकार खा भी सकता है? माँ साक्षात् भगवती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर वे देहधारी जो हैं ! कोई देहधारी व्यक्ति क्या इस

प्रकार ठाकुर के पात्र में खा सकता है ! मैं नया-नया ही आया था, इसीलिये मुझे विचित्र लगा था। माँ का भोजन हो जाने के बाद मैं माँ के हाथ धुला रहा था। तब भी मठ में टोटी नहीं लगी थी। हमें सारे काम गंगाजल से करने पड़ते थे। हाथ धुलाने के बाद जब मैं माँ के पैर धुलाने को बढ़ा, तो माँ बोलीं, ''थोड़ा ठहरो, बेटा।'' यह कहकर उन्होंने गंगाजल को सिर से लगाया तब पैर धुलाने को कहा। माँ के पैर धुलाने के बाद मैंने माँ से कहा, ''माँ, हम लोग यहाँ जिस जल का उपयोग करते हैं, वह सब गंगाजल ही तो है। हमें तो शौच के लिए भी गंगा -जल ही लेना पड़ता है। तो क्या हम लोगों को इन अशुचि कार्यों के लिए जल का उपयोग करने से पहले उसे सिर से लगाना पड़ेगा?'' माँ ने कहा, ''हाँ बेटा, गंगाजल है न ! इसलिये अशुचि कार्यों के पहले जल को सिर पर धारण करना पड़ता है।''

अस्तु, प्रसाद पाने के बाद माँ महिलाओं के साथ काली-कीर्तन सुनने महापुरुष महाराज के कमरे की खिड़की के पास बैठीं। मैं एक थाली में बहुत-से पान लेकर माँ के पास गया। माँ ने बिना कुछ कहे पान उठा लिया। मेरे मन को थोड़ा-सा धक्का लगा। जब माँ महिलाओं के साथ बैठी रहतीं, उस समय लड़कों का वहाँ आना वे पसन्द नहीं करती थीं – यह मैं जानता था। उनका थोड़ा कठोर भाव देखकर मुझे वह बात याद आ गयी। एक बार उद्‌बोधन में मुझसे कई अच्छी बातें कहने के बाद उन्होंने कहा था, ''अच्छा बेटा, अब जाओ। महिलाओं का मकान है न, यहाँ ज्यादा देर तक तुम्हारा ठहरना उचित नहीं होगा।'' ऐसी थीं हम लोगों की माँ ! पुरुषों में कोई त्रुटि देखने पर वे जैसी कठोर हो सकती थीं, वैसी ही महिलाओं के प्रति भी हो जाती थीं। दोनों के प्रति उनका समभाव था।

स्वामी भूमानन्द के मुख से मैंने माँ के अशेष कृपा की बात सुनी थी। शुकुल महाराज (स्वामी आत्मानन्द) माँ के मंत्रशिष्य थे। उन्होंने स्वामीजी से संन्यास-दीक्षा ली थी। वे प्रकाण्ड विद्वान् और ज्ञानी थे। उनके भीतर अद्वैत ज्ञान था, परन्तु बाहर से देखने पर भक्तिवादी लगते। वे ज्ञान और भक्ति की पराकाष्ठा थे। कृष्णलाल महाराज (स्वामी धीरानन्द) और शुकुल महाराज के सम्बन्ध में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) आदि कहते कि ये लोग तर चुके हैं। इन्हीं शुकुल महाराज ने एक दिन माँ से रोते-रोते शिकायत की, ''माँ, तुम निष्ठुर हो। माँ, तुमने क्या कृपा की, जो तुम्हारे रहते हुए भी मुझे कोई दर्शन आदि नहीं हो रहा है?'' यह केवल उनके मन का खेद-प्रदर्शन था। उनकी यह बात सुनकर माँ ने खूब उत्तेजित होकर कहा था, ''क्या ! इतनी बड़ी बात ! स्वयं ठाकुर मुझे दयामयी कहा करते थे, कभी उन्होंने मुझ एक फूल से भी आघात नहीं किया और तुम मुझे निष्ठुर कहते हो? जाओ, चले जाओ, मेरे सामने से चले जाओ।''

माँ तो सहज ही कभी इस प्रकार उत्तेजित नहीं होती थीं। उनका यह रूप देखकर शरत् महाराज आदि सबने आकर शुकुल महाराज को हटाया और माँ को शान्त किया। इसके बाद शुकुल महाराज एकदम स्थिर हो गये; बिल्कुल ही अपने अन्दर प्रविष्ट हो गये। हमने उन्हें आनन्द से परिपूर्ण देखा। लगता है बाहर से माँ के इस कठोर व्यवहार ने उनके हृदय को रससिंचित कर दिया था, तभी वे ऐसे अपूर्व हो सके थे।

माँ ने मुझ पर कितने प्रकार से करुणा की है, इसे मैं शब्दों में नहीं बता सकता। एक बार मैंने उन्हें एक लम्बा पत्र लिखा। पत्र पाते ही माँ ने मुझे बुलवाया। मेरे आते ही वे बोलीं, ''बेटा सूर्य आकाश में रहता है और पानी नीचे रहता है। पानी को क्या कहना पड़ता है – हे सूर्य ! तुम मुझे ऊपर उठा लो। सूर्य अपने स्वभाव से ही पानी को भाप बनाकर ऊपर उठा लेता है ! तुम्हें कुछ नहीं करना होगा।''

माँ ने जब देहत्याग किया, उस समय मैं पूजा के उपलक्ष्य में कलकत्ते के एक विशिष्ट सज्जन के घर पर था। सारे दिन की पूजा आदि समाप्त कर काफी रात गये मैं माँ का नाम लेते हुए सोने गया। रात के तीन या साढ़े तीन बजे होंगे। सहसा जोर से झकझोरने से मेरी नींद खुल गयी। एक लड़की मुझे पुकार रही थी। बोली, ''बोशीबाबू (बशीश्वर सेन) आपको बुला रहे हैं।'' मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। इतनी रात को बोशी बाबू मुझे बुला रहे हैं ! खैर, मैं बोशी-दा के पास गया। बोशी-दा ने कहा, ''तूने माँ के ऊपर अभिमान किया है?'' उस समय भी मेरी नींद की तन्द्रा पूरी तरह टूटी नहीं थी। शरीर अभी भी लड़खड़ा रहा था। बोशी-दा मुझे सड़क पर ले आये। मैं उनके साथ टहलने लगा। मैंने पूछा, ''तुम मुझसे यह बात क्यों पूछ रहे हो?'' बोशी-दा ने कहा, ''मैंने स्वप्न देखा – माँ मुझसे कह रही थीं, ''देख, ईश्वर बड़ा अभिमानी है। वह मुझे बहुत कष्ट देता है। ठाकुर मुझे दयामयी करते थे और वह मुझे इतना कष्ट देता है, मेरे ऊपर अभिमान करता है ! तू उसे देखना।'' बोशी-दा की आँखों में आँसू थे। मैंने माँ के ऊपर अपने अभिमान की बात स्वीकार की। माँ की चर्चा करते ही रात बीती। उस स्मृति का स्मरण करके बोशी-दा आज भी मुझे मनीआर्डर भेजते हैं।

जब कभी मेरा अन्तर्द्वन्द्व – रिपुओं का तीव्र आक्रमण मुझे विचलित करता, तो मैं माँ को नहीं बल्कि महाराज को बताता। कुछ छिपाकर नहीं रखता। एक बार मैं महाराज के साथ पुरी में था। वहीं से मैंने माँ को जयरामबाटी में अपने रिपुओं की प्रताड़ना की बात लिखी। उत्तर में उन्होंने लिखा था, ''तुम्हारे सारे रिपु शीतल हों !'' कैसी अद्‌भुत बात है ! आज भी मानो मैं इसे नहीं समझ सका हूँ। उन्होंने और भी लिखा था, ''जप किये जाओ।''

❖ **(क्रमशः)** ❖

कर्मयोग की साधना (७)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तक के रूप में हुआ। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१९. कर्मयोग की सहकारी साधनाएँ

हमने देखा कि कर्मयोग में मन की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मन की तीन क्रियाएँ हैं – तर्क-वितर्क, इच्छा तथा आवेग। यदि कर्म को साधना में परिणत करना हो, तो उसे (कर्म को) इन तीन क्रियाओं का शुद्धीकरण तथा विकास करना होगा। इस प्रकार कर्मयोग कई अंगों से युक्त एक समन्वित साधना है। वे अंग कौन-कौन से हैं?

पतंजलि कर्मयोग की परिभाषा करते हुए उसके तीन अंग बताते हैं – तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर को आत्म-समर्पण)।[४१] श्रीकृष्ण के मतानुसार यज्ञ, दान तथा तप – मन को शुद्ध करते हैं, अत: उनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।[४२] छान्दोग्य उपनिषद् में धार्मिक कर्तव्यों की तीन शाखाएँ बतायी गयी हैं – इनकी प्रथम शाखा है यज्ञ, दूसरी शाखा है तप और तीसरी शाखा है गुरु के सान्निध्य में निवास।[४३] इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार साधनाएँ मिलकर कर्मयोग कहलाती हैं – तप, स्वाध्याय, दान तथा यज्ञ या ईश्वरार्पण। कर्मयोग की साधना का अर्थ है इन चारों की साधना करना। आधुनिक लोगों की जो आम धारणा है कि यथेच्छा किसी भी प्रकार का कोई भी कार्य करना कर्मयोग है, यह हिन्दू शास्त्रों द्वारा समर्थित नहीं है।

तपस्या का शाब्दिक अर्थ है – ताप या गर्मी और इसका तात्पर्य है कामनाओं को सुखाना या नियंत्रित करना। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना कामना की जड़ों को नष्ट नहीं किया जा सकता। तपस्या का उद्देश्य है – कामनाओं की शक्ति को क्षीण करना और उन्हें उनके 'बीज' रूप में परिवर्तित करना। जब अनेक कामनाओं का इस प्रकार दमन हो जाता है और जब उनकी तीव्रता नियंत्रित हो जाती है, केवल तभी कामनाओं से इच्छाशक्ति को अलग करना सम्भव हो पाता है। आधुनिक काल में आत्मसंयम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप ब्रह्मचर्य है। कर्मयोगी को चारों ओर जाना पड़ता है, विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ काम करना पड़ता है और उसे सबके साथ प्रेम करना सीखना पड़ता है। यौन का उदात्तीकरण किये बिना इस दिशा में अग्रसर होना एक जोखिम-भरा कार्य है।

श्री शंकराचार्य के मतानुसार तप एकनिष्ठ प्रयास है। वे महाभारत की परिभाषा का समर्थन करते हुए, वहीं से उद्धरण देते हैं – "मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है।"[४४] यह एक प्राचीन भारतीय विचार है। जब ऋषियों को सब जानने की इच्छा हुई, तो उन्होंने इसके लिये तपस्या की। जब ध्रुव को अपने पिता का स्नेह तथा राज्य पाने की इच्छा हुई, तो उसने तपस्या की। जब पार्वती के मन में शिव को पति-रूप में पाने की इच्छा हुई, तो उन्होंने तपस्या की। जब अर्जुन को दिव्य अस्त्रों की आवश्यकता हुई, तो उन्होंने तपस्या की। इस प्रकार तपस्या – तप तथा एकनिष्ठ प्रयास से युक्त एक प्रकार का आत्मसंयम है। आधुनिक जीवन से यह भाव तेजी से लुप्त होता जा रहा है।

कर्मयोग की अगली साधना है – स्वाध्याय, जिसका अर्थ प्राय: शास्त्रों का अध्ययन या ईश्वर का नाम-जप लगाया जाता है। यह साधक को विचार तथा मार्गदर्शन देता है और मन को उच्चतर स्तर में रखने में उसकी सहायता करता है। उचित अध्ययन तथा गहन चिन्तन के द्वारा हमारी सामान्य समस्याओं तथा मानसिक कठिनाइयों के एक बड़े भाग का समाधान किया जा सकता है। स्वाध्याय का अर्थ अपने स्वयं के मन का तथा अपने विचारों के प्रवाह का अध्ययन भी होता है। स्वामीजी सावधान करते हैं – "हम अभी जो कुछ हैं, वह सब हमारे चिन्तन का ही फल है। अत: तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो।"[४५]

कर्मयोग का अर्थ केवल शारीरिक श्रम मात्र नहीं है – बातें करना, प्रचार करना तथा लेखन भी उसके अन्तर्गत आता है। ज्ञान तथा शब्द और शब्द तथा मूर्ति के बीच एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कर्मयोगी को इस बात का बोध होना चाहिये और उसे इस बात का अध्ययन करना चाहिये कि किस प्रकार मन में शब्द तथा मूर्तियाँ प्रकट होती हैं, तथा

४१. तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:। योगसूत्र, २/१

४२. भगवद्-गीता, १८/५

४३. छान्दोग्य उपनिषद्, २/२३/१

४४. तैत्तिरीय उपनिषद्, ३/१/१ पर शांकर भाष्य

४५. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ७, पृ. २२

उसे एवं दूसरों को प्रभावित करती हैं। स्वामीजी कहते हैं – "देखो तो, शब्द में कितनी शक्ति है! उच्च दर्शन में जिस प्रकार शब्द-शक्ति का परिचय मिलता है, उसी प्रकार साधारण जीवन में भी। इस शक्ति के सम्बन्ध में विशेष विचार या अनुसन्धान न करते हुए ही हम रात-दिन इस शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। इस शक्ति के स्वरूप को जानना तथा इसका उचित रूप से उपयोग करना भी कर्मयोग का एक अंग है।"[४६] सच्चा कर्मयोगी व्यर्थ के चिन्तन तथा बातों में अपनी ऊर्जा का अपव्यय नहीं करता। वह अपने शब्दों का ऐसी शक्ति के साथ उपयोग करता है कि वे दूसरों में अमिट प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

दान कर्मयोग की तीसरी साधना है। बिना दान के कर्मयोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि यही व्यक्ति की अनासक्ति तथा दूसरों के प्रति प्रेम की एकमात्र कसौटी है। प्रत्येक महान् धर्म मनुष्य के एक मूलभूत कर्तव्य के रूप में इस पर बल देता है। अनिच्छापूर्ण लोगों के हाथों से सरकार द्वारा खींचा गया आयकर भी एक तरह का वैधानिक रूप से वसूल किये गये सेकुलर दान का ही एक प्रकार है। जीवन मात्र ही एक दान है और हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अतिरिक्त हमारे पास जो कुछ भी है, प्रकृति हमें विवश करती है कि हम उसे अन्य लोगों के बीच वितरित करें। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –

"सम्पूर्ण जीवन दान-स्वरूप है; प्रकृति तुम्हें देने को बाध्य करेगी। अत: स्वेच्छापूर्वक दे दो। एक-न-एक दिन तुम्हें देना ही पड़ेगा। इस संसार में तुम संग्रह करने को आते हो। तुम मुट्ठी बाँधकर लेना चाहते हो, लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है।"[४७]

दान का अर्थ केवल भौतिक वस्तुओं का वितरण मात्र नहीं है। और यह केवल धनाढ्य लोगों द्वारा आचरणीय भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति देने को बाध्य है, निर्धन लोगों को भी इस नियम से छूट नहीं है। यदि व्यक्ति धन तथा भौतिक वस्तुएँ देने में सक्षम नहीं है, तो उसे ज्ञान, शारीरिक श्रम या प्रेम का दान करना होगा। वर्तमान काल में लोगों में सच्चे ज्ञान तथा शुद्ध प्रेम के लिये तीव्र क्षुधा विद्यमान है। सर्वोपरि व्यक्ति अपने सहकर्मियों को स्वाधीनता – उसके अपने अस्तित्व के नियमानुसार विकास करने की स्वाधीनता प्रदान करे।

स्वामीजी के मतानुसार किसी अन्य व्यक्ति को आध्यात्मिक उपलब्धि में सहायता प्रदान करना दान का सर्वश्रेष्ठ रूप है।[४८] यदि कोई आध्यात्मिक दृष्टि से उतना उन्नत न भी हो, तो वह निरन्तर दूसरों के आध्यात्मिक कल्याण हेतु प्रार्थनायुक्त विचारों का प्रेषण कर सकता है। स्वामीजी ने एक बार अपने एक शिष्य को ऐसा ही करने की सलाह दी थी – "इस प्रकार लगातार चिन्तन की तरंगों द्वारा ही जगत् का उपकार होगा। जगत् का कोई भी सत्प्रयास व्यर्थ नहीं जाता, चाहे वह कार्य हो या चिन्तन। तुम्हारे चिन्तन से ही प्रभावित होकर सम्भव है कि अमेरिका के किसी व्यक्ति को ज्ञान-प्राप्ति हो जाय।"[४९]

तपस्या, स्वाध्याय तथा दान – जब ये व्यक्ति की इच्छा-शक्ति को कामनाओं से निकालकर उसे सृष्टि के साथ जोड़ने में सहायता करते हैं, केवल तभी आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावी सिद्ध होते हैं। कर्मयोग की चौथी व सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण साधना है – यज्ञ या ईश्वरार्पण, जिसके द्वारा इच्छाशक्ति के नियंत्रण तथा चेतना के विस्तार की उपलब्धि होती है।

अपनी किसी प्रिय वस्तु का अनिच्छापूर्वक त्याग करना बलिदान कहलाता है; परन्तु यज्ञ का अर्थ केवल बलिदान नहीं है। यज्ञ केवल एक ओर ही जानेवाला ट्रैफिक – ईश्वर से बिना कुछ प्राप्त किये एक ही ओर से, केवल उन्हें देते रहना, देते रहना, देते रहना मात्र नहीं है। यह दोनों तरफ चलनेवाली एक प्रक्रिया है, जिसमें देना केवल एक हिस्सा है और प्राप्त करना दूसरा। हम केवल वही चीज दे सकते हैं, जो हमें प्राप्त होती है। बिना प्राप्त किये हम भला क्या दे सकते हैं! यज्ञ के वैदिक भाव को कहा जा सकता है – ब्रह्माण्ड-रूपी सजीव नाटक में भूमिका निभाना। इसमें भूमिका निभाने की मुख्य बात है – कुछ भी रोककर न रखना। जीवन हमें भोजन, वायु, ऊर्जा, विचार, ज्ञान, प्रेम, विश्राम, आनन्द – और स्वयं जीवन ही प्रदान करता है। यह एक निरन्तर प्रवाह है, और इसमें जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसे वापस लौटाते हुए ही उसे जारी रखा जा सकता है। यज्ञ का यही तात्पर्य है – सचेतन रूप से, ब्रह्माण्ड की चीजों को न रोकते हुए इस धारा को बनाये रखना।

कोई भी कर्म यदि सचेतन रूप से किया जाय, और उसका फल ब्रह्म को अर्पित कर दिया जाय, तो वह यज्ञ हो जाता है। आत्मबोध तथा नि:स्वार्थता – दो ऐसे तत्त्व हैं, जो यंत्रवत् होनेवाले जागतिक कार्यों को साधना में परिणत कर देते हैं। सामान्य लोगों की अधिकांश क्रियाएँ इन दो तत्त्वों से रहित होती हैं, इसीलिये वे बन्धन तथा दुखों की सृष्टि करती हैं। हमारी स्वार्थपरता तथा अन्ध अचेतन रूप से जीना तथा कार्य करना ही हमारे जीवन के अधिकांश कष्टों तथा महान् भूलों का कारण होता है। जब कर्म नि:स्वार्थ तथा सचेतन रूप से किया जाता है, तब वह बन्धन की सृष्टि नहीं करता, बल्कि आत्मा की मुक्ति में सहायता करता है।

मानव-जीवन दैवी ऊर्जा के प्रवाह का एक मार्ग है। यज्ञ इस मार्ग का शोधन करते हुए तथा उसकी बाधाओं को

४६. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ३, पृ. ४९

४७. वही, प्र. सं., खण्ड ९, पृ. १७९

४८. वही, प्र. सं., खण्ड ३, पृ. २८

४९. वही, प्र. सं., खण्ड ६, पृ. २००-१

हटाते हुए उसे खुला रखता है। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर इस मार्ग के ग्रहीता हैं, हमारी साधना के लक्ष्य-रूप में हमारे बलिदान के भोक्ता हैं। परन्तु हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हमें बोध होने लगता है कि ईश्वर ही प्रारम्भिक बिन्दु – दाता भी हैं; वे ही चिर दाता, या वस्तुत: एकमात्र दाता है और बाकी सभी उसके वितरक मात्र हैं। सब कुछ ईश्वर से आता है और हमारे पास से होकर उन्हीं के पास लौट जाता है। जब हमें ऐसा बोध होगा, तो हमारे लिये ईश्वरीय तथा जागतिक का भेद लुप्त हो जायेगा। तब हम प्रत्येक क्रिया को, या तो ईश्वर से प्राप्त करने की क्रिया के रूप में या ईश्वर को देने की क्रिया के रूप में देखेंगे। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मानो ईश्वर के साथ लेनदेन का बहीखाता है। अपने सामान्य जीवन में हम अपने आय तथा व्यय का, लेखा की भाषा में देना-पावना का बड़ी सावधानी के साथ हिसाब रखते हैं। परन्तु हम अपने आचरण तथा अनुभवों के मामले में शायद ही कभी अपनी इस आदत का उपयोग करते हैं। सुनना आय है, बोलना व्यय है। घृणा पाना आय है, घृणा करना व्यय है। आरोग्य आय है, बीमारी व्यय है। पवित्रता आय है, पाप व्यय है। यह आवश्यक नहीं कि हर प्रकार की आय लाभकारी ही हो; और न हर प्रकार का व्यय ही हानिकर है। इस बोध के साथ कि हर चीज समष्टि जीवन से आता है और उसी में लौट जाता है, यदि हम अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन का ऐसा हिसाब रखें, तो हमारा सामान्य जीवन यज्ञ हो जायेगा और जागतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन में परिणत हो जायेगा।

एक साधक ईश्वर का मुनीम है। सब कुछ ईश्वर का ही है – यह भलीभाँति जानते हुए भी वह इस बात पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता है कि उसने वैश्विक जीवन से कितना प्राप्त किया और उसका कितना भाग कैसे व्यय किया गया।

२०. कर्मयोग की पद्धतियाँ

व्यक्ति की मानसिक उन्नति तथा ईश्वर के प्रति उसके भाव के आधार पर कर्मयोग की साधना करने की कई पद्धतियाँ हैं; और तदनुसार कर्मयोग के कई प्रकार हैं। इन कर्मयोगों को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – (१) निष्काम कर्म, (२) भगवत्-प्रीतिकाम कर्म (ईश्वर को प्रसन्न करने की इच्छा से किया गया कर्म), (३) प्रपत्ति (ईश्वर को पूर्ण समर्पण) और (४) दिव्य लीला में अंशग्रहण के रूप में कर्म। इन चारों प्रकारों में से, पहला प्रकार मुख्यत: ज्ञानमार्गियों के लिये है, जबकि बाकी तीन भक्तिमार्गियों के लिये हैं। अब हम उन पर विस्तार से चर्चा करेंगे –

(१) निष्काम कर्म – ज्ञानमार्ग के लिये

इसका अर्थ है – बिना किसी कामना के कर्म करना। स्वामी विवेकानन्द इसे 'कर्म के लिये कर्म' कहते हैं। इसमें केवल पुरुषार्थ का ही महत्त्व है और इसमें ईश्वरीय कृपा का कोई स्थान नहीं। ज्ञान के इच्छुक लोग इस मार्ग को अपनाते हैं। इस मार्ग में तीन प्रकार के भाव सम्भव हैं।

एक तो है मीमांसकों का दृष्टिकोण, जिनका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक अनुष्ठान करने को बाध्य है, किसी स्पष्ट कामना के कारण नहीं, बल्कि केवल इसलिये कि यह वेदों का आदेश है। इस विचार को हिन्दू धर्म ने काफी काल पूर्व ही त्याग दिया।

दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है – द्रष्टा या साक्षी का भाव। इसमें सभी कार्यों को प्रकृति का रहस्यमय कार्य या माया का भ्रामक कार्य माना जाता है। 'मैं' उच्चतर आत्मा के साथ तादात्म्य का बोध करते हुए समस्त शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों का द्रष्टा बना रहता है। गीता में कई स्थानों पर इस भाव का वर्णन किया गया है। आजकल अत्यन्त लोकप्रिय हो रही जेन, विपस्सना आदि कई बौद्ध साधनाएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।

तीसरा दृष्टिकोण है – कर्म को यज्ञ के भाव से करना। पूरा जीवन ही एक वैश्विक यज्ञ के रूप में चल रहा है – लगता है यह विचार भारत में वैदिक युग के प्रारम्भ से ही प्रचलित था। सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में प्रजापति या समष्टि जीवात्मा के आत्म-यज्ञ के फलस्वरूप सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति की बात कही गयी है। यह वैश्विक यज्ञ प्रत्येक जीव को उसके संक्षिप्त जीवन-काल के दौरान पोषण के लिये ऊर्जा प्रदान करती है; इस दौरान उससे इस प्रकार जीवन-यापन की अपेक्षा की जाती है, जिससे यज्ञ की निरन्तरता बनी रहे। प्रत्येक जीव को इस यज्ञ में भाग लेने के लिये अति संक्षिप्त समय निर्धारित किया गया है और इसके बाद दूसरे जीव को स्थान देने के लिये उसका बलिदान कर दिया जाता है। यदि कोई व्यक्ति इस सत्य का बोध करता है और प्रत्येक कर्म को इस वैश्विक घटना में योगदान की क्रिया मानता है, तब वह कर्म में आसक्त नहीं होगा। इसीलिये गीता कहती है – "लोग यज्ञ के रूप में कर्म नहीं करते, इसीलिये कर्म में आबद्ध हो जाते हैं।"[५०] चौथे अध्याय में वह बताती है कि कैसे समस्त शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ यज्ञ के रूप में सम्पन्न की जा सकती हैं।[५१]

निष्काम कर्म इन तीनों में से किसी भी एक भाव से किया जा सकता है, परन्तु स्वामी विवेकानन्द सावधान करते हैं कि यह एक सहज मार्ग नहीं है, यद्यपि आधुनिक काल में वे ही इसके प्रमुख प्रचारक थे –

" 'मैं कार्य के लिये ही कार्य करता हूँ' – यह कहना तो बहुत सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना बहुत ही कठिन है। मैं कर्म ही के लिये कर्म करनेवाले मनुष्य का दर्शन करने के

५०. भगवद्-गीता, ३/८ ५१. वही, ४/२३-३२

लिये बीसों कोस सिर के बल जाने को तैयार हूँ। लोगों के कार्य में कहीं-न-कहीं स्वार्थ छिपा ही रहता है।''[५२]

इसीलिये कर्मयोग को ईश्वर-प्रेम से जोड़ देने पर ही यह अधिकांश साधकों के लिये आसानी से अभ्यास करने योग्य हो पाता है।

(२) भक्ति का मार्ग – भगवत्-प्रीतिकाम कर्म

इसमें ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये कर्म किया जाता है। भगवान के भक्तों द्वारा अपनाया जानेवाला यह प्रमुख मार्ग है। इसमें ईश्वर की कृपा तथा पुरुषार्थ – दोनों को ही समान महत्त्व दिया जाता है।

भक्ति से ईश्वर को प्रसन्न करने की कामना उत्पन्न होती है और जैसा कि नारद बताते हैं इसे कामना नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह अन्य सभी कामनाओं को नियंत्रित करती है।[५३] भक्त – प्रेम तथा आत्म-समर्पण के द्वारा अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा के साथ एकाकार कर लेता है। इससे उसकी अपनी इच्छा स्वयं ही सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो जाती है। साधक की आध्यात्मिक उन्नति के तारतम्य के अनुसार इस मार्ग में भी तीन प्रकार के दृष्टिकोण सम्भव हैं –

पहला है द्वैतवादी दृष्टिकोण। इस स्तर में जीवात्मा ईश्वर से पूर्णतया पृथक होती है। साधक यह समझने में असमर्थ हो जाता है कि जो कर्म (विशेषकर सांसारिक कर्म) वह कर रहा है, वह ईश्वर की पूजा है। अधिक-से-अधिक वह इतना ही कर सकता है कि वह अपने कर्म के प्रारम्भ तथा अन्त में अपने कर्मों का फल ईश्वर के चरणों में अर्पित कर दे। यहाँ तक कि कार्य के बीच में भी वह उन्हें स्मरण रखने तथा यह समर्पण करने का प्रयास कर सकता है। अधिकांश साधक स्वयं को इसी अवस्था में पाते हैं। उनके जीवन में कर्म तथा पूजा साथ-साथ चलते हैं।

दूसरा है उच्चतर द्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी स्तर। इस स्तर में साधक अनुभव करता है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में अन्तर्यामी के रूप में निवास करते हैं। यह भोक्तापन का भाव त्याग चुका है, परन्तु कर्तापन का भाव त्यागने में असमर्थ है, यद्यपि उसे बोध होता रहता है कि वह अन्तर्यामी के नियंत्रण में है। अब वह समस्त कर्मों को पवित्र समझ पाता है और कर्म को ईश्वर की पूजा के रूप में करता है।

तीसरा है अद्वैतवादी दृष्टिकोण (शंकराचार्य का अद्वैतवाद नहीं)। इस स्तर में साधक सर्वत्र ईश्वर को ही देखता है। प्रत्येक जीव उसे ईश्वर की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है। सारे कर्म पूजा में परिणत हो जाते हैं। वस्तुत: अब तो उसके लिये कर्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अब उसे कर्तापन का बोध ही नहीं रह जाता। वह केवल यही देखता है कि समस्त क्रियाएँ पूजा के रूप में हो रही हैं। अब वह मनुष्य में ईश्वर की पूजा नहीं करता, बल्कि मनुष्य की ब्रह्म के रूप में पूजा करता है। कर्मयोग का यही वह सर्वोच्च रूप है, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक युग के आदर्श के रूप में विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। सचमुच ही यह सर्वोच्च आदर्श है, परन्तु इसकी साधना केवल उन्हीं लोगों द्वारा हो सकती है, जिन्हें चेतना के उच्चतर स्तर की उपलब्धि हो चुकी है।

(३) भक्ति का मार्ग – कर्म तथा प्रपत्ति

अब तक वर्णित कर्मयोग के प्रकार उन लोगों के लिये हैं, जो कुछ हद तक शान्तिपूर्ण जीवन बिता रहे हों। ऐसे लोग एक हाथ से ईश्वर और दूसरे हाथ से कार्य को पकड़ते हैं। परन्तु बहुत-से ऐसे लोग भी हैं, जो इसे करने में असमर्थ हैं। वे जीवन के दुख-कष्टों से आघात पाकर, या ईश्वर-प्राप्ति के लिये तीव्र व्याकुलता के ताप से, उनका मन उद्विग्नता की अवस्था में रहता है और वे कर्म की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते। ऐसे लोगों के लिये शास्त्र – प्रपत्ति या ईश्वर को पूर्ण आत्म-समर्पण के मार्ग की शिक्षा देते हैं। उन्हें कर्म के लिये चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं; उनके लिये जैसे भी सम्भव हो, उसी प्रकार से वे अपना कार्य कर सकते हैं। उन्हें ईश्वर को दोनों हाथों से पकड़े रहना पड़ता है और वे कर्म को उसकी अपनी गति से ही चलने देते हैं। जब वे निष्ठापूर्वक ऐसा करते हैं – क्योंकि दूसरा कोई मार्ग उनके लिये सम्भव नहीं होता – तो वे देखते हैं कि आध्यात्मिक जगत् के रहस्यमय नियमों के अनुसार, उनका कार्य सुचारु रूप से चल रहा है और उन्हें ईश्वर का चिन्तन करने के लिये पर्याप्त स्वाधीनता मिल रही है। इस मार्ग में केवल ईश्वर-कृपा का ही महत्त्व है और पुरुषार्थ के लिये कोई स्थान नहीं।

(४) भक्ति का मार्ग – दिव्य-लीला में अंशग्रहण के रूप में कर्म

कर्मयोग की साधना का एक अन्य मार्ग भी है। इसमें सम्पूर्ण जीवन को ईश्वर की लीला के रूप में और सारे कर्मों को इस ब्रह्माण्डीय लीला में भाग लेते हुए देखा जाता है। बच्चों के लिये सारे कर्म खेल के समान होते हैं, परन्तु बड़ों के लिये खेल भी एक कर्म बन जाता है। बच्चों की सी सरलता तथा स्वाभाविकता से युक्त ईश्वरद्रष्टा लोग सम्पूर्ण जगत् को ईश्वर की क्रीड़ास्थली के रूप में देखते हैं; और सुख तथा दुख को, भलाई तथा बुराई को, जीवन तथा मृत्यु को ईश्वरीय लीला के अंग समझते हैं। थोड़ा-सा यह दृष्टिकोण अपनाने से हम सभी का जीवन मधुरतर तथा समृद्धतर हो सकता है और जीवन में सौन्दर्य तथा सार्थकता के नये दिगन्त खोल सकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

५२. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ९, पृ. १८५

५३. नारद-भक्ति-सूत्र, १/७

स्वामी विमलानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

"कालचक्र स्वयं घूम रहा है या कोई उसे घुमा रहा है? सिद्ध कवि ने लिखा है – 'चलती चक्की सब कोई देखे, कील न देखे कोय' – सब लोग यही देख रहे हैं कि चक्र घूम रहा है; परन्तु जिसे पकड़कर, जिसके सहारे वह घूम रहा है, उसे कोई नहीं देखता। वेद-उपनिषद् कहते हैं कि उनका दर्शन करने का प्रयास न होने के कारण ही मनुष्य परिवर्तन के द्वारा इतने दु:ख-कष्ट भोगता है। पर जो व्यक्ति संसार के समस्त सुखों की उपेक्षा करके, उस चेष्टा में अपने हृदय का बूँद-बूँद रक्त बहा सकते हों, ऐसे वीरहृदय कितने दीख पड़ते हैं? ऐसे लोग विरल होने पर भी भगवत्कृपा से उनका दर्शन असम्भव नहीं है। ऐसे चरित्र की चर्चा हमारे हृदय में नवीन बल का संचार करके हमें अपने-अपने आदर्श की ओर तीव्र वेग से अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। पाठको, आज हम एक ऐसे ही परलोकगत जीवन की संक्षिप्त चर्चा में प्रवृत्त होंगे।" जिनके जीवन-चरित की चर्चा की भूमिका में स्वयं स्वामी सारदानन्दजी ने ये वाक्य लिखे हैं, वे थे स्वामी विवेकानन्द के एक संन्यासी शिष्य स्वामी विमलानन्द।

श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष शिष्यों के बाद सर्वप्रथम जिन कुछ त्यागी युवकों ने स्वामीजी का आह्वान स्वीकार किया था, पूर्वाश्रम में विमलानन्द उसी युवा-टोली के अगुआ थे। उनकी इस टोली के ही एक व्यक्ति ने, जो परवर्ती काल में स्वामीजी के एक अन्य संन्यासी शिष्य हुए थे, एक बार विमलानन्द के विषय में कहा था – "अपनी सहानुभूति, स्नेह तथा सदुपदेशों से उन्होंने अनेक तरुणों तथा युवकों को सुमार्ग में प्रवृत्त किया था। उनमें से अनेक लोग इस बात के साक्षी हैं कि उनका संग तथा उपदेश न मिलने पर कइयों की जीवन-धारा कोई अन्य मार्ग पकड़ लेती।" जिन विशेष त्यागी युवकों की टोली को प्राप्त करके रामकृष्ण-संघ काफी परिपुष्ट हुआ, उन आदर्शनिष्ठ उन्नत-चरित्र वैराग्यवान विवेकानन्द-अनुवर्तियों के बालसखा तथा प्रिय नेता का जीवन, संघ के इतिहास में आदरणीय तथा प्रेरणादायी होगा, यह स्वाभाविक ही है। भगवत्-पदार्पित-प्राण तथा नीरव साधक विमलानन्द चिर काल तक स्मरणीय बने रहेंगे।

हावड़ा जिले के जगद्वल्लभपुर थाने के अन्तर्गत बागाण्डा ग्राम के एक निष्ठावान ब्राह्मण परिवार में विमलानन्द का जन्म हुआ था। उनका पूर्वनाम खगेन्द्रनाथ था। यह ग्राम उन दिनों हुगली जिले में पड़ता था। उनके पिता वेणीमाधव चट्टोपाध्याय एक धर्मप्राण तथा भगवत्-परायण व्यक्ति थे। चट्टोपाध्याय महाशय बाद में अन्दूल में निवास करते थे और बीच-बीच में कोलकाता के पटलडांगा के कैथेड्रल मिशन लेन में स्थित अपने मकान में भी आकर रहते थे। रंगपुर के राजा गोविन्दलाल राय के राज्य में वे पहले इंजीनियर थे और बाद में राज्य के प्रधान व्यवस्थापक के रूप में उन्होंने काफी काल तक सफलतापूर्वक कार्य किया था। सांसारिक दायित्वों तथा समस्याओं के बीच भी कभी उनकी स्वधर्म-निष्ठा में न्यूनता आती नहीं दिखाई दी। कहते हैं कि कर्म-व्यस्तता के कारण यदि किसी दिन वे अपनी भगवत्-वन्दना या संध्या-आह्निक नहीं कर पाते, तो सारे दिन उपवास करने के बाद देर रात को घर लौटकर पूजा-अर्चना पूरा करने के बाद ही जल ग्रहण करते।

खगेन्द्रनाथ इन्हीं वेणीमाधव चट्टोपाध्याय के द्वितीय पुत्र थे और उनका जन्म १८७२ ई. में हुआ था। उनकी माँ भी उनके पिता के समान ही आदर्शनिष्ठ तथा भक्तिमती थीं। उनकी माता की एकमात्र आकांक्षा थी कि पुत्र की धर्म में मति हो। पुत्र को संसारी बनाने की इच्छा उनके मन में कभी भी न थी। विभिन्न शोक-तापों से जर्जरित रहकर भी वे ईश्वर के पादपद्मों को ही संसार का एकमात्र सार जानकर पुत्र खगेन्द्रनाथ को उसी के अनुसार शिक्षा तथा प्रेरणा दिया करती थीं। माता-पिता के सद्गुण सचमुच ही पुत्र के जीवन में भी संक्रमित हुए थे। परन्तु खेद की बात यह थी कि पिता का दुर्बल स्वास्थ्य भी पुत्र को विरासत में प्राप्त हुआ था।

बालक खगेन की तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता, बन्धुप्रीति तथा माधुर्य-युक्त आचार-व्यवहार ने उन्हें सबके आकर्षण का केन्द्र बना दिया था। आयु में वृद्धि के साथ-साथ उनके इन सारे गुणों में इतनी वृद्धि हो रही थी कि कोलकाता के रिपन कॉलेजिएट स्कूल की प्रवेशिका श्रेणी में अध्ययन-काल में उन्हें केन्द्र बनाकर विधिवत् एक तरुण-दल का गठन हो गया था। खगेन्द्रनाथ का दृढ़ चरित्रबल, धर्मानुराग, सप्रेम व्यवहार तथा

संगठन की प्रतिभा ही इस दल-सृष्टि की मूल प्रेरणा थी। कहीं किसी साधु-भक्त की सूचना मिलते ही खगेन्द्रनाथ दौड़कर वहाँ पहुँच जाते। उनके दल के युवकों के भीतर उस समय उच्चतर जीवन-गठन के लिये एक नियमित चेष्टा थी – ब्रह्मचर्य-पालन तथा धर्मचर्चा के ऊपर उन लोगों का विशेष ध्यान था। उनमें से प्रत्येक के प्राणों की यही आकांक्षा थी कि हमें कैसे ईश्वर की अनुभूति हो।

खगेन के संगियों में उनके चचेरे भाई हरिपद चट्टोपाध्याय भी एक थे। परवर्ती काल में ये हरिपद ही स्वामीजी के संन्यासी शिष्य स्वामी बोधानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की सहायता की दृष्टि से विचार करने पर खगेन्द्रनाथ के नेतृत्व में गठित युवकों की इस छोटी-सी टोली का अवदान सचमुच ही अवर्णनीय है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि श्रीरामकृष्ण-संघ के विस्तार के इतिहास में उस काल की इस युवा-मण्डली ने अकेले ही एक गौरव-अध्याय का लेखन किया था। इस दृष्टि से देखा जाय तो खगेन्द्रनाथ की जीवनी पर चर्चा करने का एक ऐतिहासिक उद्देश्य भी है।

इस टोली का प्रत्येक युवक ध्यान तथा अन्य साधनाओं का अपनी समझ के अनुसार नियमित रूप से अभ्यास किया करता था। उनके सहपाठी तथा धर्ममित्र कालीकृष्ण का एक उद्यान-भवन था। वे लोग अनेक दिन अपने मित्रों को साथ लेकर उस निर्जन उद्यान में धर्मचर्चा तथा साधन-भजन करते हुए बिताया करते थे। किसी-किसी दिन वे लोग भोजन आदि करने भी घर नहीं जाते, उद्यान में स्वयं ही पका लेते।

काशीपुर के महिमा चक्रवर्ती उन दिनों कोलकाता के खूब प्रसिद्ध साधक थे। काशीपुर में ही उनका साधना-चक्र बैठता – अनेक शिक्षित अध्यात्म-जिज्ञासु युवक इस चक्र में नियमित रूप से आना-जाना करते। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' तथा 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' ग्रन्थों से पता चलता है कि महिमा बाबू श्रीरामकृष्ण का साक्षात् दर्शन भी कर चुके थे। महिमा बाबू के दल के लोगों का एक बाह्य लक्षण यह था कि वे लोग अपने सिर पर एक लम्बी रुक्ष चोटी रखते थे। फिर शंखनाद तथा एकतारा के साथ ॐकार का गान करना उनकी नियमित साधना-प्रणाली का एक अद्भुत वैशिष्ट्य था। खगेन भी उस काल के भावस्रोत में पड़कर महिमा बाबू के दल में आना-जाना करते थे और उन लोगों की ही तर्ज पर लम्बे केश रखने लगे। सुबह और शाम के समय वे गेरुए वस्त्र पहनते और अपने ही घर में धूप-धूना जलाकर शंख बजाते और एकतारे पर ॐकार का गान करते। खगेन को जब भी किसी साधक की सूचना मिलती, वे तत्काल दौड़कर वहाँ पहुँच जाते। कर्ताभजा सम्प्रदाय के नवीनचन्द्र राय नामक एक साधक के यहाँ भी उनका कुछ दिनों तक आवागमन हुआ था। नवीन राय कर्ताभजा होकर भी स्त्रियों को साथ लेकर साधन नहीं करते थे।

तरह-तरह के साधन-भजन तथा चर्चा आदि में रुचि लेने के बावजूद मेधावी खगेन्द्रनाथ पढ़ाई-लिखाई में कोई लापरवाही नहीं दिखाते थे। १८९० ई. की प्रवेशिका परीक्षा में वे विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुए थे। सुनने में आता है कि उन्हें १५ रुपये महीने की छात्रवृत्ति भी मिली थी। प्रवेशिका के बाद उन्होंने रिपन कॉलेज से ही एफ. ए. की पढ़ाई भी की। वस्तुत: इसी समय से उनका धर्म-जीवन एक नयी दिशा में, एक नये मार्ग पर अग्रसर हुआ। उनके जीवन का लक्ष्य भी क्रमश: स्पष्ट हो उठा। कालीकृष्ण, सुधीर, हरिपद, सुशील आदि मित्रों के साथ उनका सम्पर्क और भी घनिष्ठ होने लगा। खगेन के मित्रगण भी अपने हृदय में उनकी अद्भुत धर्मप्राणता का प्रभाव अनुभव करने लगे। अपने बचपन की स्मृतियों के प्रसंग में स्वामी विरजानन्द (कालीकृष्ण) ने एक बार लिखा था, "प्रतिदिन कॉलेज बन्द होने के बाद हम लोग एकत्र होते और बड़े आग्रह के साथ काफी रात तक धर्म-विषयक चर्चा करते रहते। किस प्रकार धर्मानुभूति हो, यही हमारी टोली में से प्रत्येक के हृदय में कामना रहती। उसी समय खगेन के प्रेम, बुद्धि तथा सुझावों ने हम सभी को उसके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट किया था। वैसे उस समय हम लोग धर्म की बातें बहुत कम ही समझते थे; परन्तु जितना भी समझते, उसे जीवन में लाने का प्रयास करते। हृदय में जो आता, उसी के अनुसार साधन-भजन करते।" इस उक्ति से जहाँ खगेन के बाल्य-संगियों की निष्ठापूर्ण धर्मजिज्ञासा तथा साधन-भजन का वास्तविक परिचय मिलता है, वहीं खगेन के भी उन्नत चरित्र-बल तथा सप्रेम नेतृत्व का एक हृदयग्राही चित्र प्राप्त होता है।

खगेन के सहपाठी कालीकृष्ण के घर पर सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा संकलित 'श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश' तथा रामचन्द्र दत्त द्वारा लिखित श्रीरामकृष्ण की जीवनी, आदि पुस्तकें थीं। इन पुस्तकों के द्वारा ही खगेन तथा कालीकृष्ण को पहली बार श्रीरामकृष्ण के बारे में जानकारी मिली थी। भद्रकाली नामक स्थान पर खगेन के पिता का एक ईंट का भट्ठा था। एक बार वे अपने मित्रों के साथ एक बड़ी नौका में सवार होकर भद्रकाली घूमने गये थे। लौटते समय उन लोगों ने दक्षिणेश्वर में उतरकर वहाँ ध्यान-भजन आदि करते हुए रात्रि-यापन किया था। उन्होंने वहाँ के भण्डार से चावल, दाल, नमक, हण्डी, काठ आदि की भिक्षा लेकर स्वयं ही पकाकर भोजन किया था। अगले दिन शाम को वे लोग कोलकाता पहुँचकर अपने-अपने घर लौट गये। सुधीर, कालीकृष्ण आदि मित्र ही उनके उस दिन के संगी थे। खगेन का यही सम्भवत: पहला दक्षिणेश्वर-दर्शन था।

इन्हीं दिनों एक बार उनके मन में आया कि वे संसार त्यागकर साधन-भजन में ही जीवन बितायेंगे। मित्र कालीकृष्ण के साथ सलाह करके खगेन ने हिमालय जाने का निश्चय किया। उनके एक सम्बन्धी कुछ मील दूर डायमण्ड हार्बर में रहा करते थे। इन दोनों संसार-विरागी तरुणों ने करीब पन्द्रह दिन उन्हीं के यहाँ एकान्त-वास किया। लोटा, कम्बल आदि जुटा लिये गये और वैराग्य के भाव को और भी दृढ़ करने के लिये एक दिन उन्होंने स्टार थियेटर जाकर 'चैतन्य-लीला' नाटक भी देखा। घर छोड़ने का दिन तथा समय निश्चित हो गया। उन्हें दार्जिलिंग की ओर जाना था। निर्दिष्ट दिन की पिछली रात को कालीकृष्ण खगेन के घर चले आये। दोनों मित्र रात बीतने का इन्तजार कर रहे थे, तभी गहरी रात के समय नन्दबाबू नामक एक पड़ोसी आकर खगेन की खिड़की को थपथपा कर उन्हें पुकारने लगे। नन्दबाबू विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य थे और साधन-भजन किया करते थे। नन्दबाबू ने बताया कि उन्हें किसी अलौकिक उपाय से उन लोगों के संकल्प की बात ज्ञात हो गयी है। उन्होंने यह भी बताया कि इस समय गृहत्याग करने से उनका अमंगल होगा। खगेन की इन सज्जन के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि उन्होंने उनकी सलाह को मान लिया। अत: उस बार उनका संसार छोड़कर जाना नहीं हो सका।

इन्हीं दिनों उन्होंने कोलकाता की गलियों में लगे पोस्टरों से पता चला कि काकुड़गाछी के योगोद्यान में श्रीरामकृष्ण के जन्मदिन का समारोह होगा। खगेन्द्रनाथ एक दिन मधुराय की गली में ११ नं. के भवन में स्थित भक्त रामचन्द्र दत्त के घर जाकर उत्सव का सारा विवरण ले आये। श्रीरामकृष्ण के एक भक्त के साथ परिचय हो जाने से खगेन तथा उनके मित्रों के आनन्द की सीमा न रही। निर्दिष्ट दिवस पर उन लोगों ने काकुड़गाछी जाकर उत्सव में भाग भी लिया। इस प्रकार रामबाबू की स्नेह-दृष्टि के भाजन बनकर खगेन तथा उनके मित्रगण क्रमश: काकुड़गाछी योगोद्यान के खूब घनिष्ठ भक्त बन गये – यहाँ तक कि वे लोग हर शनिवार तथा रविवार का दिन काकुड़गाछी में ही बिताया करते। रामबाबू के मुख से श्रीरामकृष्ण के विषय में सुनते-सुनते वे लोग मुग्ध हो जाते। उन दिनों खगेन की यह टोली काकुड़गाछी आश्रम में ठाकुर की सेवा-पूजा का सारा उत्तरदायित्व स्वेच्छापूर्वक तथा सानन्द वहन किया करती थी।

रिपन कॉलेज में अध्ययन के दौरान ही खगेन के जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक 'श्रीम' अर्थात् श्री महेन्द्रनाथ गुप्त उन दिनों उस कॉलेज के एक लोकप्रिय प्राध्यापक थे। खगेन प्राय: ही देखते कि उनके ये प्राध्यापक महाशय अवकाश के समय कॉलेज की छत पर स्थित एक छोटे-से कमरे में चले जाते हैं और उसी में आँखें मूंदकर विचार करते हुए बीच-बीच में एक छोटी-सी नोटबुक निकालकर कुछ देखते हैं और बड़े मनोयोग के साथ एक अन्य नोटबुक में लिखते जाते हैं। खगेन को बड़ा कुतूहल हुआ। एक दिन वे साहस करके प्राध्यापक महोदय के पीछे-पीछे चल पड़े और ईश्वरेच्छा से उनके स्नेहपात्र बन गये। खगेन ने पाया कि उनके ये प्राध्यापक ही श्रीरामकृष्ण के अत्यन्त प्रिय 'मास्टर' हैं। मास्टर महाशय के साथ खगेन की इस घनिष्ठता में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। बीच-बीच में वे मास्टर महाशय के घर भी जाने लगे। इस प्रकार खगेन की टोली के तथा अन्य युवक भी श्रीम के सम्पर्क में आये। खगेन तथा उनके मित्रगण घण्टे-पर-घण्टे मंत्रमुग्ध होकर मास्टर महाशय के पास बैठे श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का पान करते रहते। एक दिन वे इन जिज्ञासु युवकों से बोले, "देखो, ठाकुर काम-कांचन त्यागी थे। उन्हें ठीक-ठीक समझना हो, तो उनके जिन शिष्यों ने काम-कांचन त्याग किया है, उनका संग करना होगा।" फिर बात-बात में उन्होंने यह भी संकेत दिया कि ईश्वर-प्राप्ति के लिये सर्वस्व-त्याग आवश्यक है। वे बोले, "यदि दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक दिन वराहनगर मठ जाओ, जहाँ श्रीरामकृष्ण की संन्यासी शिष्य-मण्डली निवास करती है।"

मास्टर महाशय से यह प्रेरणा प्राप्त करने के बाद एक दिन खगेन्द्रनाथ अपने सहपाठी कालीकृष्ण तथा एक अन्य मित्र को साथ लेकर कॉलेज से पैदल ही वराहनगर मठ जा पहुँचे। यह सम्भवत: १८९१ ई. की बात है। वहाँ श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों की अद्‌भुत तितिक्षा तथा तपस्यामय जीवन ने खगेन्द्रनाथ को खूब आकृष्ट किया। उनका यह आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता गया और साथ ही वराहनगर मठ में उनका आवागमन भी बढ़ गया। अवसर पाते ही वे अपने मित्रों के साथ मठ में चले जाते और अब साधुसंग, जप-ध्यान तथा ठाकुर-सेवा के लिये कुछ-न-कुछ कार्य करना उनका नियमित अभ्यास ही हो उठा।

लोगों की दृष्टि के परे खगेन के आध्यात्मिक जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। १८९१ ई. के अन्त या १८९२ ई. के शुरुआत में उन्हें श्रीमाँ सारदा देवी के पुण्य दर्शन हेतु अपने मित्र सुशील के साथ जयरामबाटी जाने का सौभाग्य मिला था। सम्भवत: तभी या बाद में किसी समय माँ ने महामंत्र देकर खगेन्द्रनाथ को कृतार्थ किया था। इस बात को उन्होंने काफी काल तक मित्रों से भी छिपा रखा था – वैसे बाद में पता चला कि उनकी टोली के कई लोगों ने किसी-न-किसी समय जाकर माँ से मंत्रदीक्षा प्राप्त की थी।

❖ **(क्रमश:)** ❖

न मे भक्तः प्रणश्यति (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवास पर आयोजित सभा में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

वन्दनीया माताओं एवं सुहृद् भक्तवृन्द ! कल हमने श्रीमद्-भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक की अद्भुत, अकल्पनीय, अवर्णनीय भूमिका और महाभारत के उदाहरणों के साथ चर्चा की थी –

अपिचेत् सुदुराचारः भजते माम् अनन्य भाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिम् निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।। ३०/३१

– 'भगवान कहते हैं कि अतिशय दुराचारी भी यदि मेरा भजन करनेवाला है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसने मेरे भजन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। हे अर्जुन ! तुम निश्चित रूप से जान लो, यह ध्रुव सत्य है कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता।' भगवान ने अपनी प्रतिज्ञा हम सबको सुनायी है। अब इसकी फलश्रुति क्या है?

फलश्रुति किसे कहते हैं? इसे हम एक सरल व्यावहारिक उदाहरण से समझने का प्रयास करें, क्योंकि यहाँ मेरी बहुत सी बहनें, बेटियाँ बैठी हुई हैं, उन्हें समझने में सरलता होगी। एक बार हम बहुत लम्बे दौरे पर राजस्थान गये थे। एक भक्त दीदी साथ में थी। सुबह नास्ते के समय चर्चा होती थी कि महाराज आप दोपहर को क्या भोजन करेंगे? तो मैं बताता था कि मैं मिर्च नहीं खा सकता, मिठाई का मुझे शौक नहीं है। तो इस चर्चा से फलश्रुति हुई कि सब प्रकार के भोजन बने, पर सब्जी आदि में मिर्च न डाले जायँ। दूसरा उसके विकल्प के रूप में दही या अन्य कोई खाद्य वस्तु रहे। तो यह है फलश्रुति।

अब भगवान ने जो प्रतिज्ञा हमें सुनायी इसकी फलश्रुति क्या है? भगवान ने कहा – 'अपिचेत् सुदुराचार:' चाहे कितना भी दुष्ट व्यक्ति क्यों न हो, वह व्यक्ति यदि सम्यक रूप से, ठीक-ठीक मेरा भजन करे, तो उसको साधु ही समझो।

साधुरेव, यहाँ विसर्ग का र हो गया है। शब्द है साधु: एव मन्तव्य:, उसे साधु ही समझना चाहिये। जैसे हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान के सामने झुकें, जब तव्य प्रत्यय् लगता है तो उसका अर्थ होता है, यह करना चाहिये – It should be done – उसे क्यों साधु मानना चाहिये? क्योंकि सम्यक् व्यवसित: हि स: – उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब वह मेरा भजन करेगा। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात भगवान कहते हैं – कौन्तेय प्रतिजानीहि **न मे भक्तः प्रणश्यति** – अर्जुन, ठीक से सुन लो, मैं प्रतिज्ञापूर्वक तुझको कह रहा हूँ कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। कैसे आप-हम-सब का विनाश नहीं होगा? वर्तमान का जीवन केवल वर्तमान से ही होता है। भगवान प्रारम्भ में कहते हैं कि – क्षिप्रं भवति धर्मात्मा – वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। वर्तमान में तुरन्त हो जाता है। अगर इसको भविष्य में कहना होता तो कहा जाता – 'क्षिप्रं भविष्यति धर्मात्मा' – शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायेगा। ऐसा अगर भगवान कहते तो हमें बहुत बड़ी आशा नहीं मिलती। भविष्य में हो जायेगा, कब होगा क्या मालूम ! भवति भू धातु लट् लकार है। इसका तात्पर्य है, वह तुरन्त महात्मा हो जाता है। वह वर्तमान में ही महात्मा बन जायेगा। अच्छा, हम धर्मात्मा बन गये, तो इसे कैसे पहचाने? धर्मात्मा बन जाने के कुछ लक्षण हों, तब तो हम समझेंगे कि हम धर्मात्मा हो गये। लक्षण क्या है? भगवान तुरन्त कह रहे हैं – 'शश्वच्छान्तिं निगच्छति। संधि के कारण शश्वच्छान्तिं हो गया। शब्द है शश्वत् शान्तिं निगच्छति – वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। हम धर्मात्मा हैं, तो इसकी पहली पहचान है कि हमको शाश्वत शान्ति मिलेगी। अशाश्वत शान्ति तो प्रतिदिन मिलती ही है। ऐसा कोई टी.वी.-सीरियल जो आपको बहुत पसन्द हो, यदि वह आने वाला है और आपके पास समय है, तो उसे देखकर आप कहते हैं – वाह, बड़ा अच्छा लगा, बड़ी शान्ति मिली, बड़ा मजा आया। तो वह शान्ति जो मुझे मिली थी, वह क्षणिक थी, कुछ देर के लिये थी, अनित्य थी।

मान लीजिये जब मैं भोजन करने के लिये बैठा, तो मैंने ऐसा सोचा था कि बिटिया मुझे चूरमा खिलायेगी और बिटिया ने कहा कि महाराज, आज चूरमा नहीं बन सका, यह गोलगप्पे खा लीजिये। जैसे ही सुना कि चूरमा नहीं है, मन अशान्त हो गया। अब वह दो घण्टे की शान्ति मिट्टी में मिल गई। दो घंटे सिरियल देखते समय सोचा था, चूरमा खाने को मिलेगा, पर गोलगप्पे खाने को मिला। तो चूरमा तो गया ही, साथ ही गोलगप्पा भी गया कि नहीं? संसार में और संसार से मिलने वाली प्रत्येक शान्ति अशाश्वत है, शाश्वत नहीं है। वह एक क्षण में नष्ट हो जायेगी। इसलिये भगवान कहते हैं कि यदि तुम धर्मात्मा हो, तो तुम शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लोगे, जिसका कभी नाश नहीं होगा, जो हमेशा बनी रहेगी। गम् धातु

का अर्थ जाना होता है, इसी से लट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन में गच्छति बनता है। शश्वत् शान्तिं निगच्छति अर्थात् शाश्वत शान्ति में पहुँच जाता है।

अब आइये, हम देखें कि इस मार्ग में प्रविष्ट होने के लिए कैसे भक्ति मार्ग सबसे सहज है। क्योंकि भगवान ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि उसका नाश नहीं होगा। उन्होंने कहा – न प्रणश्यति – नाश नहीं होता है, वर्तमान में, अभी, इसी वक्त। महाभारत के ही एक दूसरे दृष्टान्त से हम देखें कि कैसे भगवान के भक्त का नाश नहीं होता है और कैसे भगवान अपने भक्त की रक्षा करते हैं।

महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ। पाण्डव विजयी हुए। शत्रु पक्ष में सभी लोग मारे गये, केवल तीन लोग बच गये थे – कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा। इनमें भी शत्रु एक अश्वत्थामा ही था। कृपाचार्य उस कुल के आचार्य ही थे आचार्य द्रोण के बाद। और कृतवर्मा यादवी सेना के सेनापति थे, वे युद्ध में मरे नहीं थे। कृतवर्मा और कृपाचार्य ये शत्रु नहीं थे, ये कर्तव्यबुद्धि से दुर्योधन की ओर से लड़ रहे थे। पाण्डवों के प्रति इनके मन में शत्रुता नहीं थी। कृतवर्मा तो वैष्णवी सेना के सेनापति और भगवान के सेवक ही थे। कृपाचार्य द्रोणाचार्य के शाले थे, तो उनके मन में भी पाण्डवों के प्रति कोई शत्रुता नहीं थी। शत्रुता थी केवल अश्वत्थामा के मन में। इस तरह शत्रुपक्ष से तीन व्यक्ति बचे थे। अन्त में दुर्योधन और भीम के बीच युद्ध हुआ और भीम ने दुर्योधन को मार दिया। जब इन तीनों ने देखा कि पाण्डव विजयी हो गये हैं और अब युद्ध समाप्त हो गया है, तो ये लोग रणक्षेत्र से भाग गये। गुप्तचरों ने आकर खबर दी कि अब कोई शत्रु नहीं बचा है। सब शत्रु समाप्त हो गये। शत्रुओं का शिविर एकदम खाली है।

अब यहाँ भी हम देखेंगे कि कैसे भगवान भक्त की रक्षा करते हैं – न मे भक्त: प्रणश्यति। इससे हमारे मन में विश्वास दृढ़ होगा। भगवान ने आदेश दिया और युधिष्ठिर ने निश्चय किया कि चलो अब हम जल्दी से शिविर में जायेंगे। अभी सब लोग युद्ध के उपकरणों से सज्जित हैं, कवच पहने हुए हैं, शस्त्र धारण किये हुये हैं, अपने अपने वाहनों पर आरूढ़ हैं। भगवान कृष्ण और अर्जुन भी रथ पर आरूढ़ हैं। उस जमाने में यह परम्परा थी, सामान्यत: अभी भी जहाँ घोड़ा-गाड़ी है, वहाँ मैंने देखा है कि जो गाड़ी हाँकने वाला सईस होता है, वह सवारी का हाथ पकड़कर गाड़ी में चढ़ा देता है। यह परम्परा भी थी और सुविधा भी थी। अभी भी जो गाड़ियाँ ऊँची हैं, उस पर हाथ पकड़कर हमें चढ़ा देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण तो अर्जुन के सारथी थे। प्रतिदिन अर्जुन जब युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर, कवच आदि पहनकर, तुणीर और गाण्डीव हाथ में लेकर जब आते थे, तो भगवान हाथ पकड़ कर उनको रथ पर चढ़ाते थे और युद्ध के अन्त में हाथ पकड़कर उतारते थे। पहले कृष्ण रथ से उतर जाते थे, तब अर्जुन से कहते थे कि चलो, अब उतरो। लड़ाई समाप्त हो गई। लड़ने को कुछ बचा नहीं। परम्परा के अनुसार अर्जुन बैठे हैं कि कृष्ण पहले स्वयं उतकर मुझसे उतरने के लिए कहेंगे, तब मैं उतरूँगा। पर आज बात उल्टी हुई। भगवान घोड़े का लगाम खीचें हुए रथ पर जमकर बैठे हैं और अर्जुन से कह रहे हैं कि तुम अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर रथ से उतर जाओ। गाण्डीव ले लो, तुणीर आदि जो भी शस्त्र तुम ले सकते हो, लेकर उतर जाओ। अर्जुन को थोड़ा आश्चर्य-सा लगा, किन्तु भगवान की आज्ञा थी, वे रथ से उतर गये। जब वे नीचे उतरे तो भगवान कहते हैं, दूर खड़े हो जाओ। अर्जुन तो भगवान के सखा थे, आज्ञाकारी थे, दूर खड़े हो गये। जब वे पर्याप्त सुरक्षित दूरी में खड़े हो गये, तब भगवान ने घोड़ों की लगाम छोड़ी और एकदम शीघ्रता से रथ से कूदकर अर्जुन के पास आ गये। जब तक वे अर्जुन के पास आए, पूरा रथ घोड़े सहित एकदम भयंकर ज्वाला में जलने लगा। युधिष्ठिर आदि सभी लोग देखकर चकित हो गये कि यह क्या हुआ? न कोई शस्त्र का प्रयोग हुआ है ! इतना सुन्दर रथ था ! दो क्षण पहले श्रीकृष्ण और अर्जुन उसमें बैठे थे और अब यह धू-धू करके जल रहा है। थोड़ी ही देर में पूरा रथ घोड़ों सहित जलकर भस्म हो गया। यदि भगवान पहले उतर जाते, तो अर्जुन भी अपने गण्डीव तथा अस्त्र-शस्त्रों के साथ जलकर भस्म हो जाते और वहाँ एक राख की ढेर रह जाती। यह दृश्य देखकर युधिष्ठिर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसके बारे में श्रीकृष्ण से पूछा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि हमारे मन में जो उत्सुकता होती है, वह उत्सुकता हमको अशान्त कर देती है। कैसे? मनुष्य का यह स्वभाव ही है कि यदि संसार की कोई भी वस्तु उसे अज्ञात रहे, तो वह शान्त नहीं रह सकता। जैसे मैं अभी आपकी सेवा में शब्दांजलि अर्पित कर रहा हूँ। यदि यहाँ एक काला पर्दा लगा होता और आप लोग मुझे देख न पाते तो मेरी बातों में आपको कोई रुचि न होती। आप इधर-उधर से झुककर देखने का प्रयास करते कि कौन बोल रहा है? यह मानव स्वभाव है। उसे वस्तु को देखने-जानने की उत्सुकता बनी रहती है। इस उत्सुकता के कारण व्यक्ति का विकास और विनाश दोनों होता है। वह कैसे होता है, यह बाद में देखेंगे। तो युधिष्ठिर ने पूछा, वासुदेव, यह क्या हुआ? भगवान कृष्ण ने कहा कि देखिए, द्रोणाचार्य ने और अन्य दूसरे योद्धाओं ने कई प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, ब्रह्मास्त्र का प्रयोग इस रथ पर किया था। यह रथ उसी दिन जल गया

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सती का शाप

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

पिछले वर्ष सौराष्ट्र की यात्रा के समय वहाँ के ऐतिहासिक शहर और किसी समय की गुर्जर देश की राजधानी अन्हिलवाड़ पाटन भी गया।

आज से १०००-१२०० वर्ष पहले यह बहुत बड़ा और भव्य शहर रहा होगा, परन्तु इस समय तो टूटे-फूटे खण्डहर, कुछ पुराने मन्दिर और कुएँ-बावड़ी बच गए हैं। अधिकांश पाटनवासी रोजगार-धन्धे के लिये अहमदाबाद, सूरत और बड़ौदा की तरफ चले गये हैं, इसलिये अब यह एक छोटा-सा कस्बा मात्र रह गया है।

मुंशीजी के 'पाटन का प्रभुत्व' और 'गुजरात के नाथ' के कोट्यधीश सेठ सज्जन मेहता और मुंजाल मेहता के महल भी बड़े-बड़े भयावने खंडहरों में बदल गये हैं।

वहाँ पर जाने वाले पर्यटकों को एक विशाल तालाब अवश्य दिखाया जाता है इसके चारों तरफ पक्का पुश्ता बँधा हुआ है। चार बड़ी-बड़ी कलात्मक मकराने पत्थरों की छतरियाँ हैं। घाटों की सीढ़ियाँ जैसलमेर के लाल-पीले पत्थरों से मढ़ी हुई हैं। यद्यपि वर्षा का मौसम था, परन्तु तालाब में पानी बिल्कुल नहीं था। चारों तरफ कुछ गाय-भैंसे घूम-फिर रही थी।

मैंने गाइड से इसके बारे में पूछा तो वह कुछ उदासी-भरे

पिछले पृष्ठ का शेषांश

होता, जिस दिन द्रोणाचार्य जी ने इस पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, कृपाचार्य जी ने इस पर आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया, और भी दूसरे योद्धा जिनके पास ऐसे शस्त्र थे, उन सबने इस पर प्रहार किए थे। किन्तु चूँकि मैं इस रथ में बैठा था, इसलिए उन अस्त्रों का प्रभाव रुका हुआ था, किन्तु समाप्त नहीं हुआ था। लेकिन मेरे उतरते ही वे सभी प्रभावी हो गये और रथ जलकर राख हो गया। तो इस प्रकार भगवान ने अर्जुन की रक्षा की – **न मे भक्तः प्रणश्यति**।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान ने अर्जुन की रक्षा क्यों की? इसके पीछे अर्जुन का योगदान क्या था? अर्जुन की क्या विशेषता थी? यह हमको देखना पड़ेगा। अर्जुन का योगदान था कि उन्होंने भगवान की आज्ञा का संशयरहित होकर श्रद्धापूर्वक पालन किया। अठारहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण की वाणी से हमें संकेत मिलता है –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। १८.६६

– हे अर्जुन, सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को त्यागकर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।

भगवान अर्जुन से पूछते हैं –

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।। १८.७२

– हे अर्जुन! जो कुछ मैंने तुमसे कहा, क्या तुमने मेरी बातों को एकाग्रता पूर्वक ध्यान से सुना? क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया? तो अर्जुन उत्तर देते हैं, हाँ प्रभु –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। १८/७३

– हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अत: आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। यही अर्जुन की विशेषता थी। जब तक हम अपने जीवन में अपने से बड़े गुरुजनों की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे, तब तक आध्यात्मिक विकास तो छोड़ दीजिए, सामाजिक विकास भी सम्भव नहीं है। अर्जुन ने उपरोक्त श्लोक में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही थी – आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और आप जैसा कहेंगे, वैसा ही मैं करूँगा – नष्टो मोहः ...। अर्जुन की इसी विशेषता, इस समर्पण के कारण ही भगवान सर्वत्र उनकी रक्षा करते चले जा रहे हैं। हम एक दूसरे दृष्टान्त से समझने का प्रयास करें कि भगवान ने वचन दिया है कि न मे भक्तः प्रणश्यति – मेरे भक्त का नाश नहीं होता, तो कैसे वे अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हैं। यह संसार तो क्षणिक है, नाशवान है। यदि हम विनाश से बचना चाहते हैं तो हमें भक्त होना पड़ेगा। भगवान का भक्त कौन है? एकाध संतों के उदाहरण से इसको हम समझने का प्रयत्न करें। ❖ **(क्रमशः)** ❖

लहजे में कहने लगा कि यही दिखाने के लिये तो मैं आपको यहाँ लाया हूँ।

इस तालाब के चारों तरफ कंकरीला मैदान है, इसलिये वर्षा के दिनों में इसमें अथाह पानी आता है, परन्तु थोड़ी देर में ही सारा ज़ल विलय हो जाता है। बड़े-बड़े इंजीनियरों ने इसकी जाँच की, पेंदे में बहुत-सी सीमेंट की ढलाई की, मजबूत पत्थर जड़े गये, पर फल कुछ भी नहीं हुआ। यहाँ इसका नाम 'शापित तालाब' है। इसके पीछे एक ऐतिहासिक कथा है।

आज से ८५० वर्ष पहले गुजरात में एक प्रसिद्ध राजा सिद्धराज जयसिंह का राज्य था। वे अपने शौर्य और दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थे। मुंजाल मेहता जैसा प्रतापी उनका प्रधानमंत्री तथा काकभट्ट जैसा प्रसिद्ध योद्धा उनका सेनापति था। एक से लेकर ग्यारह तक ध्वजा वाले वहाँ कई सेठ थे। (एक ध्वजा की कीमत एक करोड़ रुपये थी)।

जब जयसिंह छोटा-सा बच्चा था, तभी उसके पिता कर्णदेव का देहान्त हो गया। माता मीनल देवी अत्यन्त चतुर, विदुषी परन्तु दुर्धर्ष थी। उनके कड़े नियंत्रण में रहकर जयसिंह अपने समय का प्रसिद्ध युद्ध-विशारद हुआ। गुजरात के नाथ के सिवाय उसे सिद्धराज भी कहा जाने लगा। पाटन की प्रभुता गुजरात के सिवाय अन्य प्रान्तों में भी फैल गयी। कहा जाता है कि रुके हुए पानी का बाँध टूट जाता है, तो फिर वह बड़े वेग से बढ़ चलता है, किसी भी अवरोध-अटक की परवाह नहीं करता। कुछ ऐसा ही मीनल देवी के देहान्त के बाद हुआ। सिद्धराज जयसिंह के रनिवास में बहुत ही सुन्दर रानियाँ और दासियाँ थी, परन्तु उसके मुसाहिब नित्य नयी सुन्दरियों की खोज में रहते थे। आयु के साथ-साथ राजा की कामलिप्सा बढ़ती जा रही थी।

जूनागढ़ का राजा रा-खेंगार उस समय का अद्‌भूत वीर था। उसका किला पश्चिम भारत में नहीं, बल्कि देश के इने-गिने किलों में से था। उसकी रानी का नाम था राणक देवी, जो अपनी सुन्दरता और शालीनता के लिये देश भर में प्रसिद्ध थी, दूर-दूर के लोग उसका दर्शन करने के लिये जूनागढ़ आते थे।

जयसिंह उससे विवाह करना चाहता था, परन्तु वह हृदय से रा-खेंगार को चाहती थी। जयसिंह के कड़े अवरोध की बिना परवाह किये रा-खेंगार उसके साथ विवाह करके उसे जूनागढ़ ले गया था।

मंत्रियों, सभासदों और सेनाध्यक्षों के विरोध के बावजूद जयसिंह ने एक बड़ी फौज लेकर जूनागढ़ के किले को घेर लिया। जब बहुत दिनों तक सफलता नहीं मिली और उसकी फौजें थकने लगी, तब उसने वहाँ के किलेदार को मिलाकर किला फतह कर लिया। रा-खेंगार दूसरे साथियों के साथ बहादुरी से जूझता हुआ मारा गया।

जिस समय जयसिंह राणकदेवी से मिलने के लिये किले में पहुँचा, तो वहाँ महल के एक कोने में उस सती के जले हुए शरीर की राख की ढेरी मात्र थी। पैरों में महावर लगाकर और सोलह श्रृंगार करके सती अपने पति के सिर को गोद में लेकर भस्म हो गयी थी। उसके पैरों के निशानों को आज तक हजारों-लाखों सधवा और कुमारी कन्याएँ पूजती हैं। आज भी जूनागढ़ में राणक देवी का महल है और वह स्थान भी है, जहाँ वह सती हुई थी। आज तक गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में उसके नाम के गीत गाये जाते हैं।

कामी और क्रोधी की विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है। बौखलाया हुआ जयसिंह क्रोधित होकर प्रजा की बहू-बेटियों पर और भी अधिक अत्याचार करने लगा। एक दिन उसकी दृष्टि एक गरीब मजदूर टिकू की पत्नी जस्सो पर पड़ी। उसके मुसाहिबों ने जस्सो को २ पैसे रोजाना मजदूरी की जगह १० पैसे रोजाना की मजदूरी का लालच दिया और राजमहल में दासी के कार्य हेतु ले जाने के उद्देश्य से उसके लिये कुछ-न-कुछ भेंट-सौगात लाने लगे। वह बेचारी देहाती महिला इन सब कुचालों को भला क्या समझें ! परन्तु न जाने क्यों जस्सो के मन में कुछ अशुभ का सा आभास हुआ।

दो-तीन दिन बाद राजा के सिपाही टिकू और जस्सो को पकड़कर महल में ले गये। पहले तो उन दोनों को अलग-अलग हर तरह से समझाया गया। नाना प्रकार के प्रलोभन दिये गये, परन्तु जब वे किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए, तो राजा को क्रोध आ गया और उसने टिकू को जस्सों के सामने खड़ा करके कोड़े मारने की आज्ञा दी। मार से टिकू लहू-लुहान होकर बेहोशी में एक ओर लुढ़क गया। मुँह से खून आता देखकर जस्सो ने समझा कि वह मर गया है।

घर से आते समय जस्सो अपनी चोली में एक तेज कटारी ले गई थी। उसे अपनी छाती में भोंकते हुए उसने कहा – "हे दुष्ट और कामी राजा, यदि मैं मन, वचन और कर्म से पवित्र हूँ, तो तुझे शाप देती हूँ कि तेरे इस बड़े तालाब में एक घड़ा पानी भी नहीं ठहरेगा, चाहे कितनी भी वर्षा हो। लोग जब इस सुन्दर और बड़े तालाब को सूखा देखेंगे, तो तेरे इस दुष्कर्म को याद करके युग-युग तक तुझे शाप देते रहेंगे। यही नहीं, तेरे इस बड़े राज्य को भोगने वाला वंशधर भी नहीं पैदा होगा।"

सती के दोनों शाप सत्य हुए। जयसिंह को पुत्र नहीं हुआ। उसका राज्य उसके प्रतिद्वन्द्वी के पुत्र कुमारपाल को मिला। ❑

सार्वभौमिक आध्यात्मिक ऊर्जा-शक्ति का केन्द्र : बेलूड़ मठ (२)

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव का भव्य मन्दिर

ऐसे युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण का विशाल भव्य मन्दिर बेलूड़ मठ में अवस्थित है। इस मन्दिर की कल्पना स्वामी विवेकानन्द जी ने स्वयं की थी। वास्तुकला की दृष्टि से भारत के आधुनिक मंदिरों में यह महत्वपूर्ण है। इसका निर्माण श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी-शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज ने किया था तथा उन्हीं के द्वारा १४ जनवरी, १९३८ को इसका लोकार्पण हुआ था। यह मंन्दिर विभिन्न धर्मों के सार तत्त्व और श्रीरामकृष्ण के उपदेश 'सर्वधर्म समन्वय' का प्रतीक है।

इस पवित्र प्रांगण में श्री रामकृष्ण सूक्ष्म रूप से आज भी विद्यमान हैं। परमात्मा सर्वव्यापी हैं मात्र इसके कारण इनकी विद्यमानता नहीं है। बल्कि भगवान के द्वारा भक्तों के समक्ष की गयी प्रतिज्ञा है – **मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद** – 'हे नारद जी ! जहाँ मेरे भक्त मेरे गुण-लीलाओं का चिन्तन-मनन और मेरा भजन-गायन करते हैं, मेरा ध्यान करते हैं, मैं वहीं निवास करता हूँ।' यह स्वयं भगवान की वाणी है। इस दृष्टि से बेलूड़ मठ में प्रति दिन हजारों भक्तों के द्वारा भगवान श्रीरामकृष्ण का दर्शन-स्मरण तथा प्रात: मंगल आरती और सन्ध्या-आरती के द्वारा उनकी अर्चना-वन्दना की जाती है। भक्त अपने हृदय में उनकी उपस्थिति का बोध करते हैं।

बेलूड़ मठ में ही उनकी पावन अस्थियाँ विद्यमान हैं (श्रीरामकृष्ण के अस्थि-पात्र को स्वामी विवेकानन्द जी 'आत्माराम की मंजूषा' कहते थे।), जिस पर सुशोभित है पाप-तापहारी, सकलजन-मुग्धकारी श्रीरामकृष्ण की संगमर्मर की चिन्मय प्रस्तर प्रतिमा, जीवन्त विग्रह। उस मूर्ति से निकलने वाली किरणें दर्शकों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करती हैं तथा तत्क्षण उनके दुखद विषय-वृत्तियों का नाश कर उनमें आनन्द का संचार करती हैं। इसीलिये एकबार अल्पकालिक होने पर भी यदि कोई व्यक्ति उस प्रेम-पुरुष की चिन्मय मूर्ति का दर्शन करता है, तो बार-बार उसे उनके दर्शन की अभिलाषा होती है। आज भी सुदूर विश्व के विभिन्न भागों से आकर लोग उनका दर्शन कर, अपनी कष्टाग्नि का शमन कर अपने चित्त में शीतलता का अनुभव करते हैं तथा सुख-शान्ति तथा आनन्द से पूर्ण होकर अपने स्थान को प्रत्यावर्तित होते हैं।

परमात्मा सर्वव्यापी हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण कण-कण में व्याप्त हैं। लेकिन अपनी अज्ञानतावशात् हमें उनकी इस सर्वव्याप्ति का अनुभव नहीं होता है। किन्तु यहीं इस बेलूड़ मठ में ही उनके सर्वाधिक प्रकाश की अभिव्यक्ति है। इसी के कारण जन-साधरण भी उनकी कृपा प्राप्त कर अपने मन में शान्ति और हृदय में प्रसन्नता का अनुभव करता है।

अभिष्ट सिद्धिप्रद श्रीरामकृष्ण

हमारे परम प्रेमास्पद श्रीरामकृष्ण साधकों के अभिप्सितफलप्रसू और मनोवांक्षा पूर्ण करनेवाले हैं। एकबार स्वामी विवेकानन्द जी ने बेलूड़ मठ के मन्दिर में विद्यमान 'आत्माराम के कलश' में श्रीरामकृष्ण की विद्यमानता की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना किया – "ठाकुर यदि तुम सचमुच ही इसके भीतर विराजमान हो, तो तीन दिनों के भीतर ही ग्वालियर के राजा को मठ में आकृष्ट करके ले आओ।" इस बात को स्वामीजी के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था। स्वामीजी स्वयं भी बाद में भूल गये और दूसरे दिन किसी कार्य से कोलकाता चले गये। जब अपराह्न में स्वामीजी कोलकाता से मठ वापस आये तो, उन्हें पता चला कि ग्वालियर के महाराजा ने ग्रैण्ड ट्रंक रोड से होकर गाड़ी में जाते समय अपने भ्राता को यह पता लगाने भेजा था कि स्वामीजी मठ में उपस्थित हैं या नहीं, परन्तु स्वामीजी की अनुपस्थिति के कारण वे दुखी मन से लौट गये। शाम को इस घटना को जानकर स्वामीजी बहुत दुखी हुये – मैं उनके (श्रीरामकृष्ण के) जीवनकाल में उनकी परीक्षा अन्त तक लेता रहा और जब वे स्थूल शरीर में नहीं हैं, तब आज भी उनकी परीक्षा ले रहा हूँ। तत्पश्चात् उन्होंने सत्वर मन्दिर में जाकर 'आत्माराम की मंजूषा' को मस्तक से लगाकर उस परम दयालु परमात्मा के सामने क्षमा-याचना की। बार-बार प्रणाम करते हुये उन्होंने कहा –"तुम सत्य हो ! तुम सत्य हो ! तुम सत्य हो! (युगनायक विवेकानन्द, भाग-३, पृष्ठ-३४५) भगवान श्रीरामकृष्ण आज भी वहाँ विशेष रूप से विद्यमान हैं, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है, केवल आवश्यकता है, अपने संकीर्ण हृदय को उनके सामने उन्मुक्त कर देने की। अपने उदार, पवित्र हृदय में उनका आवाहन कर, अपने हृदय-सिंहासन पर उनको विराजमान करने के लिये उनसे आकुल प्रार्थना की।

स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था कि यह संघ श्रीरामकृष्ण का शरीर है। इसकी सेवा करना ठाकुर के जीवन्त विग्रह की सेवा करना है। स्थूल से अधिक सूक्ष्म सेवाओं का योगदान माना जाता है। स्थूल विग्रह की स्थैर्यता होती है, जबकि सूक्ष्म-चैतन्य में सर्वव्याप्ति होती है। जितनी सेवा ठाकुर स्थूल शरीर में किये, उससे असंख्य गुना अधिक लोक-कल्याण वे सूक्ष्म शरीर में रहकर कर रहे हैं। यह संघ ठाकुर के उपदेशों का मूर्त रूप है, श्रीठाकुर के विचारों का घनीभूत प्रतिमूर्ति है। वे अपनी नित्य चिन्मय विचार-शक्ति के द्वारा

अभी भी सूक्ष्मत: देश-कालातीत असीमित होकर विराट मानवता की सेवा में सन्नद्ध हैं।

नामी से नाम महान है

श्रीराम-श्रीकृष्ण आदि अवतारों ने अपने जीवनकाल में जितने लोगों का आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन किया, कहीं उससे अधिक लोग उनके आदर्शों पर चलकर, उनके नाम-गुण-लीला का चिन्तन कर उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त कर जीवन में शान्ति की उपलब्धि कर रहे हैं। नाम की महिमा का वर्णन करते हुये गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं –

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।
रिषिहित राम सुकेतुसुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ।।
भंजेउ राम आपु भव चापू ।
भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन ।
जन मन अमित नाम किये पावन ।।
निसिचर निकर दले रघुनन्दन ।
नामु सकल कलि कलुष निकंदन ।।
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ।।१/२४/३-६

– श्रीराम ने केवल एक तपस्वी ऋषि गौतम की नारी अहिल्या का उद्धार किया था, किन्तु उनके नाम ने तो करोड़ों दुष्टों की कुबुद्धि को सुधार दिया। श्रीराम ने ऋषि विश्वामित्र जी के कल्याण के लिये एक सुकेतु यक्ष की कन्या ताड़का की सेना और उसके पुत्र सुबाहु सहित वध किया, किन्तु उनका नाम भक्तों के दोष, दुख और दुराशाओं का ऐसे नाश करता है, जैसे सूर्य रात्रि का करता है। श्रीराम ने शंकर के एक धनुष को तोड़ा, किन्तु उनका नाम का प्रताप संसार के समस्त भयों का नाशक है। श्रीराम ने एक दण्डक वन को सुहावन, पावन किया, किन्तु उनके नाम ने असंख्य लोगों के मनों को पवित्र किया। श्रीराघवेन्द्र ने राक्षस-समुदाय का विनाश किया, किन्तु उनका नाम कलियुग के सारे पापों का विनाशक है। श्रीरघुनाथ ने शबरी, जटायु आदि उत्तम सेवकों को ही मुक्ति दी, परन्तु उनके नाम ने अगणित दुष्टों का उद्धार किया। नाम के गुणों की गाथा वेदों में भी प्रसिद्ध है।''

अवतार पुरुषों की यह विलक्षणता ही है कि उनके नाम में दिव्य अलौकिक शक्ति निगूढ़ रहती है। जब कोई व्यक्ति श्रद्धा-विश्वास से उनके पवित्र नाम का उच्चारण करता है, तो उसे वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह अभिष्ट सिद्धि प्राप्त कर परम शान्ति एवं परमानन्द की उपलब्धि करता है।

नाम की महिमा बताते हुये भक्त प्रह्लाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा था –

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।

– हे पिताजी ! रामनाम जपनेवालों को भय कहाँ। वे किसी दु:ख-ताप से सन्तप्त नहीं होते, क्योंकि भगवान का नाम सभी तापों के शमन करने की औषधि है। हे तात ! राम-नाम की महिमा तो देखिये कि यह अग्नि भी मेरे शरीर के संस्पर्श से शीतल होकर मुझे शीतलता प्रदान कर रही है। अत: आप भगवान से द्वेष-बुद्धि छोड़कर उनका नाम लें।

जहाँ भी परमात्मा के पवित्र नाम का स्मरण-चिन्तन-मनन-भजन-संकीर्तन होता है, वहाँ वे विद्यमान रहते हैं, अन्य स्थानों की अपेक्षा वहाँ उनका सर्वाधिक प्रकाश रहता है। वे अपने भक्तों के हृदय को आलोकित करते हैं, अपनी कृपा-कटाक्ष से उन्हें अभिष्ट सिद्धि देकर उसे पूर्णत्व प्रदान करते हैं। भगवान स्वयं भागवत में कहते हैं –

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगिनाम हृदयेऽपि च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

– 'हे नारद जी ! मैं बैकुण्ठ और योगियों के हृदय में वास नहीं करता हूँ, मेरे भक्त जहाँ मेरी लीला का चिन्तन और भजन-गायन करते हैं, मैं वहीं निवास करता हूँ।'

इसीलिये भक्त ध्रुव, प्रह्लाद ने नाम की ही सहायता से ईश्वर का दर्शन और सान्निध्य पाया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि नामी से नाम की महिमा अधिक है तथा नाम से ही जन-मानस का अधिक उपकार हुआ है।

महिमावान दिव्य लीलाधाम भगवान श्रीरामकृष्ण का पावन नाम बेलूड़ मठ के प्रांगण में नित्य गूँजता रहता है। वहाँ प्रभु अपनी समस्त व्यक्त-अव्यक्त कलाओं के साथ विद्यमान रहकर भक्तों की मनोवांछा पूर्ण करते रहते हैं।

पुराना मंदिर – श्रीरामकृष्ण मन्दिर के पूर्वोत्तर में पुराना मन्दिर है। सबसे पहला मन्दिर यही है, जहाँ श्रीरामकृष्ण की नित्य पूजा नये मन्दिर के उद्घाटन तक यानि जनवरी, १८९९ से लेकर १३ जनवरी, १९३८ तक होती रही। स्वामी विवेकानन्द जी ठाकुरजी की प्रतिमा को अपने कंधों पर बैठाकर लाये थे। क्योंकि ठाकुर ने एकबार उनसे कहा था कि तुम अपने कंधों पर बैठाकर मुझे जहाँ ले जायेगा, मैं वहीं रहूँगा। इसी मन्दिर में स्वामी विवेकानन्द जी और श्रीरामकृष्ण के अन्य संन्यासी शिष्य बैठककर पूजा, जप-ध्यान और भजन आदि गाया करते थे। इस मन्दिर में जाने से ये पवित्र स्मृतियाँ भक्तचित्त में हिलोरें लेने लगती हैं। इस मन्दिर के बगल में ही

श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य और संघाध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी और स्वामी अखंडानन्द जी महाराज का कक्ष है।

विश्वविख्यात् स्वामी विवेकानन्द जी का कक्ष – पुराने मन्दिर के पूर्वोत्तर में स्वामी विवेकानन्द जी का निवास कक्ष है। युगाचार्य विश्वविख्यात् स्वामी विवेकानन्द जी इसी कक्ष में रहा करते थे और ४ जुलाई १९०२ को यहीं उन्होंने महासमाधि ली थी। उनके द्वारा विभिन्न स्थानों और समयों पर व्यवहृत सामग्रियाँ यहाँ लाकर संरक्षित की गयी हैं। इस कक्ष के सामने एक आम्र-पेड़ है, जहाँ स्वामीजी बैठकर दर्शनार्थियों और भक्तों को दर्शन देते थे और सत्संग करते थे।

स्वामी विवेकानन्द जी का संक्षिप्त परिचय

स्वामी विवेकानन्द जी का जन्म पश्चिम बंगाल के कोलकाता में एक सम्पन्न परिवार में १२ जनवरी, १८६३ को हुआ था। उनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। संन्यास लेने के बाद वे स्वामी विवेकानन्द जी के नाम से विश्वविख्यात् हुये। १८ वर्ष की उम्र में जब वे कालेज के छात्र थे, वे दक्षिणेश्वर के काली के उपासक श्रीरामकृष्ण देव से प्रभावित हुये। श्रीरामकृष्णदेव ने इनके जीवन का निर्माण एक महान धर्मगुरु के रूप में किया। श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के बाद स्वामी विवेकानन्द जी ने एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में सम्पूर्ण भारत की यात्रा की तथा भारतवासियों की दुर्दशा – भयंकर गरीबी, अशिक्षा और जन-साधारण के पिछड़ेपन आदि से अवगत हुये। परिव्रजन करते हुये वे दिसम्बर, १८९२ में भारत के दक्षिणी समुद्र के अंतिम छोर पर स्थित कन्याकुमारी पहुँचे और वहाँ की शिला पर बैठकर तीन दिनों तक भारत-माता का ध्यान करते रहे। उन्होंने ध्यान में भारत के अतीत के गौरव और उज्जव भविष्य का बोध किया तथा वर्तमान समस्याओं का समाधान भी प्राप्त किया। उन्होंने भारतवासियों को सुशिक्षित और उनके गौरवशाली धर्म से परिचित कराने तथा प्रमाद आलस्य छोड़कर देश के नव-निर्माण में लगाने का दृढ़ संकल्प लिया। उन्होंने ११ सितम्बर, १८९३ को अमेरिका के शिकागो में आयोजित 'विश्व-धर्म-संसद' में महान उदारवादी 'हिन्दू धर्म' पर व्याख्यान देकर विश्ववासियों को भारतीय शाश्वत संस्कृति और सनातन धर्म से अवगत कराया और विश्वविख्यात् हो गये। उन्होंने भारत के प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान को यू.एस.ए. और ईंग्लैंड में लगभग साढ़े तीन वर्षों तक प्रचार करने के बाद सन् १८९७ में भारत वापस आकर एक अनुपम संस्था 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापनी की, जिसमें श्रीरामकृष्ण द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी को दिये गये उपदेश 'शिव भाव से जीव सेवा' के आदर्श से अनुप्राणित होकर गरीबों को ऊपर उठाने एवं अन्य सामाजिक सेवाओं को रामकृष्ण संघ के संन्यासीगण गृहस्थ भक्तों के साथ मिलकर कार्य करते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी के प्रमुख उपदेशों का संकलन १० खंडों में प्रकाशित है, जिससे उनके जीवन-दर्शन की कुछ झलक मिलती है।

स्वामी ब्रह्मानन्द-मंदिर – स्वामी ब्रह्मानन्द जी (१८६३-१९२२) श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य थे। स्वामी विवेकानन्द जी के बाद दूसरा स्थान इन्हीं का था। स्वामी विवेकानन्द अपने इस गुरुभाई को बड़े प्रेम से 'राजा' कहकर पुकारते थे। वे कहते थे कि 'राजा' में एक राज्य चलाने की क्षमता है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होंने रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष का महान गुरुतर भार इन्हें सौंपा, जिसे इन्होंने बड़ी ही कुशलता से सुसम्पन्न किया। ये रामकृष्ण मठ और मिशन के प्रथम परम अध्यक्ष थे। जहाँ इनके शरीर का अंतिम दाह-संस्कार किया गया था, वहीं सन् १९२४ में उनकी स्मृति में इस मन्दिर का निर्माण किया गया। इनका स्वभाव नाम के अनुरूप ही था। ब्रह्मानन्द जी महाराज सदा ब्रह्मभावापन्न रहते थे। इनके जीवन की बहुत सी दिव्य घटनायें हैं, जिससे इनकी ईश्वरपरायणता और ईश्वर-समर्पण की झलक मिलती है। मंदिर में इनके दर्शन से भक्तों को हृदय में बड़ी शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है।

श्रीमाँ सारदा देवी का मंदिर – गंगाजी के बड़े चौड़े स्नान-घाट पर माँ सारदा का मंदिर गंगाजी की ओर मुँह करके है। माँ सारदा गंगाजी को बहुत श्रद्धा करती थीं। इसलिये उनके मंदिर का मुँह गंगाजी की ओर है। मंदिर में श्रीमाँ का बड़ा ही सुन्दर सौम्य स्नेह-प्रेमपूर्ण चित्र विराजमान है। मानो श्रीमाँ हमेशा गंगाजी की ओर देखते-देखते उनकी तरंगों के साथ तादाम्य हो जाती हैं। फिर जैसे ही कोई दर्शनार्थी सन्तान आकर उनसे प्रार्थना करता है, उनकी एकात्मता भंग हो जाती है। वे अपनी संतानों को वात्सल्य प्रदान करने में संलग्न हो जाती हैं। फिर जैसे ही खाली हुईं, पुन: उसी माँ गंगा के साथ तदाकारिता। यह क्रम चलता रहता है। सन् १९२० में श्रीमाँ की महासमाधि के बाद उनके पार्थिव शरीर का अंतिम दाह-संस्कार जिस स्थान पर किया गया था, ठीक उसी स्थान पर २१ दिसम्बर, १९२१ को श्रीमाँ के मंदिर का निर्माण किया गया। जब दर्शनार्थी श्रीमाँ के मंदिर में प्रणाम करने जाते हैं, तो लगता है कि माँ अपनी स्वाभाविक स्नेह और करुणा की उन सबके ऊपर वर्षा कर रही हैं और एक दृष्टि से गंगाजी की ओर देख रही हैं। ❖ **(क्रमश:)** ❖